

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 8 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2010

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. धर्मपाल जी और उनका काम पवन कुमार गुप्त	9
2. हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता कैलाशचन्द्र पन्त	19
3. साहित्य की भारतीय परम्परा श्रीभगवान सिंह	25
4. बिहार की दशा और विकास की दिशा डॉ. कुमार विमल	40
5. विसंरचना: पाठ और पाठक के बीच गतिशील सर्जनात्मक आलोचना पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	51
6. भूमण्डलीय और भारतीय सन्दर्भों में स्त्रीवाद पुष्पपाल सिंह	66
7. मेरी बेजिंग-डायरी के पन्नों से 1999-2007 सत्यमित्र दुबे	72
8. असमीया साहित्य में जनजातीय लेखकों की देन अदिति सैकिया	85

9. लोककवि सन्त तुकारामजी का लोक-संवाद तुकाराम दौड	94
10. एक पुस्तक प्रेमी के संस्मरण शंकर शरण	109
11. एक महती संस्कृति का धनी-भारत ब्रजलाल उनियाल	116
पाठकीय प्रतिक्रिया	125
प्राप्ति-स्वीकार	39

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

बिहार के चुनाव

बिहार की पन्द्रहवीं विधान सभा के परिणाम पूर्णतः अनपेक्षित थे, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। नीतीश कुमार की जीत तो होनी ही थी, जो हुई भी। वैसे 243 सदस्यों की विधान सभा में 200 का आँकड़ा पार करना, 206 स्थानों पर जीत पाने की उम्मीद, स्वयं नीतीश कुमार ने भी नहीं की थी। वैसे आइ बी एन-7 ने जदयू-बीजेपी गठबंधन को 200 से अधिक सीटें पाने की भविष्यवाणी तो कर ही रखी थी। चुनाव में नीतीश कुमार के गठबंधन को पहले से तीन प्रतिशत अधिक मत एवं लालू प्रसाद यादव एवं राम विलास पासवान के गठबंधन को 9 प्रतिशत कम मत मिले। जदयू के मतों में 2.12 प्रतिशत की बढ़ोतरी से उसे 86 की तूलना में 115 सीटें मिलीं; भाजपा के मतों में 0.74 की उछाल से उसकी सीटें 55 से बढ़कर 91 हो गयीं। चुनाव में राजद को 23.45 से घटकर 18.84 प्रतिशत याने 4.61 प्रतिशत कम एवं लोजपा को 11.10 से घटकर 6.74 प्रतिशत याने 4.36 प्रतिशत कम वोट मिला। परिणामस्वरूप, पिछले चुनाव की तूलना में राजद की सीटें 54 से घटकर 22 एवं लोजपा की 10 से घटकर मात्र तीन रह गयीं। इस चुनाव में कांग्रेस, राकांपा एवं निर्दलियों के अतिरिक्त सबके मतों का प्रतिशत घटा; सीटें सबने गँवाई। सपा, माकपा, राकांपा, एवं माले को एक भी सीट नहीं मिलीं।

इस चुनाव में तीनों कम्युनिस्ट पार्टियों ने आपसी तालमेल के साथ बढ़चढ़कर भाग लिया था। पिछले चुनाव में माले के पाँच, माकपा का एक एवं भाकपा के तीन प्रत्याशी चुनाव जीते थे। इस बार केवल भाकपा का एक प्रत्याशी जीत दर्ज करा पाया। कांग्रेस का वोट 6.09 प्रतिशत से बढ़कर 8.73 प्रतिशत हो गया, उसकी सीटें घटकर मात्र चार याने आधे से भी कम रह गयीं। न मतों की बढ़ोतरी न चमत्कारी नेतृत्व का कमाल उनके काम आया। कांग्रेसी मूर्खतापूर्ण “केन्द्र के पैसे” की बात करते रहे। दूसरे दलों से निकाले गये गलत छवि के लोगों की जीत का भरोसा किए सपने सँजोए रहे कि मतदान निर्णायक नहीं होगा; सरकार बनाने में उनकी भी भूमिका कहीं न कहीं रहेगी। उनका सपना सपना ही बना रह गया। नीतीश कुमार ने पिछड़ों एवं दलितों के बीच के दबंगों का वर्चस्व तोड़ा। सत्ता में स्त्री वर्ग की सहभागिता, पंचायत के स्तर पर ही सही, सुनिश्चित की; भले ही मुखिया या सरपंच का अधिकार स्त्री के पति के पास ही रहता हो। नीतीश कुमार के शासन में गुण्डों का भय कम हुआ। सड़कें दिखने लगीं। विकास की गाड़ी चलने लगी। व्यक्तिगत रूप से उनकी

छवि साफ सुथरी है। इन सबका लाभ उन्हें मिला। उनके गठबंधन को चुनाव में अप्रत्याशित सफलता मिली।

एक समय बिहार, जैसा कि लोक प्रशासन के विश्व-प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर पाल अप्लेबी ने माना था, देश के सर्वाधिक सुशासित प्रदेशों में था। उस समय श्रीकृष्ण सिंह मुख्यमंत्री एवं ललन प्रसाद सिंह मुख्यसचिव थे। फिर प्रशासन में राजनीतिकों की दखल बढ़ती गयी, साथ ही अफसरों एवं मंत्रियों की गलत कामों में सहभागिता एवं गठजोड़ भी। गलत अफसर/सरकारी कर्म पुरस्कृत एवं अच्छे दण्डित होने लगे। स्थिति बिगड़ती गयी। नीतीश कुमार ने प्रशासन को राजनीतिकों की जकड़न से मुक्त कराया। नौकरशाही के स्तर पर भ्रष्टाचार बना रहा; कहीं कहीं बढ़ा भी। फिर भी लोग विश्वास करते हैं कि नीतीश अच्छे लोग हैं, उनके आगे पीछे उनकी बेटे-बेटियाँ, भई-बहन, पत्नी, साले-सालियाँ सत्ता की मलाई डकारने, कुर्सी पाने की होड़ लगाते नहीं दिखायी देते। इस बार वे भ्रष्टाचार पर भी काबू कर पायेंगे।

वैसे देखें तो नीतीश कुमार ने वैसा कुछ नहीं किया है, जैसा कि कोई व्यवस्थित सरकार नहीं करती या उससे वैसा करने की उम्मीद नहीं की जाती। लेकिन जनता तो उनकी सरकार की तूलना लालू-राबड़ी की सरकार से ही करेगी, जहाँ प्रशासन ठप्प था, विकास की गाड़ी रुकी पड़ी थी, जनता अपराधियों से भयभीत थी। नीतीश के राज में प्रशासन की जड़ता टूटी है; विकास की गाड़ी चलने लगी है; अपराधियों का भय घटा है।

इस चुनावी जीत में नीतीश सबसे बड़े कारक रहे हैं। साथ की कुछ अन्य बातों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। चुनाव जीतने वाले प्रत्याशियों में भाजपा के जीत का प्रतिशत (प्रत्याशियों एवं जीतनेवालों का अनुपात) जदयू से अधिक रहा है। अच्छा काम करनेवाले विभागों में गृह विभाग मुख्यमंत्री के पास तथा पी.डब्ल्यू.डी. एवं स्वास्थ्य भाजपा मंत्रियों के पास रहे हैं। फिर भाजपा के पास सुसंगठित कार्यकर्ताओं का समूह रहा है, जिसका लाभ जदयू को भी मिला है।

एक बात और। नीतीश कुमार के प्रभाव से वोट बैंक की राजनीति खत्म हुई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह निष्प्रभावी जरूर हुई है। आखिर उनके सभी प्रत्याशी किसनगंज जिले एवं अररिया में हार क्यों गये? बहुत से स्थानों पर जाति की राजनीति “एक या दो के विरुद्ध अन्य सभी” के कारण निष्प्रभावी रही। तथा-कथित ऊँची जातियों ने अपनी जाति के नीतीश-विरोधी नेताओं को नकार दिया। ऐसा प्रायः सभी जातियों में हुआ।

आज एक तरफ हम बिहार की जनता की पहल देख रहे हैं, जिसने काम दिखाने वाले गठबंधन को 84 प्रतिशत से अधिक स्थानों पर विजयी बनाकर पुनर्स्थापित किया। दूसरी तरफ 2जी स्पेक्ट्रम जैसी लूट जिसमें राजनीति, सरकार, माध्यम, कापरेट

घरानों, यहाँ तक की विदेशी एजेन्ट की भी भूमिका है। हमें लगता है कि भारत की जनता अव्यवस्था, राष्ट्रीय संशाधनों की अनवरत लूट, राजनीतिकों की सिद्धान्तहीन बेशर्म संवेदनहीन स्वार्थपरकता के विरुद्ध राष्ट्रीय स्तर पर पहल करेगी। क्या इस देश के सुविधाभोगी वर्ग को नियंत्रित करने का समय नहीं आया है जिसने इस देश से लूटे गये 65,223 अरब रुपये स्वीटजरलैण्ड के बैंकों में जमा कर रखे हैं। सार्थक बदलाव के लिए लोगों को जगाया जाना चाहिए; बौद्धिक आन्दोलन चलाया जाना चाहिए। इसमें भारतीय राजनीति का योगदान भी हो सकता है, जो संसद के कार्य को ठप्प करके संभव नहीं।

बी.बी. कुमार

धर्मपाल जी और उनका काम

पवन कुमार गुप्त*

धर्मपाल जी से मिलना, उनसे अनौपचारिक बातें करना, उनकी बात को समझना, इन सब का धीरे-धीरे परन्तु बड़े गहरे स्तर पर असर होता था। उनकी बातों को स्वयं की मान्यताओं के आधार पर पढ़ और सुनकर, सतही स्तर पर निष्कर्ष निकालने से गलत नतीजों पर भी पहुँचा जा सकता है। बहुत लोग इस कारण भ्रमवश यह मानते हैं कि धर्मपाल जी कुछ पीछे ले जाने की बात कर रहे हैं या कि वे भारतवर्ष के गौरवमय अतीत की कोई बात कर रहे हैं। या यह भी कि भयंकर रूप से पश्चिम के खिलाफ हैं, इत्यादि। असल में, ये सारे-के-सारे निष्कर्ष उन्हें समझे बिना निकाले गए होते हैं।

धर्मपाल जी किसी चीज को तोड़-मरोड़ने, अतिशयोक्ति करने अथवा किसी वास्तविकता की अवहेलना करने के आदी नहीं थे। वे तो, जो है, आसपास जो कुछ हो रहा होता है या साधारणतया लोग जैसा व्यवहार करते हैं, दुनिया में जो कुछ होता है, उसे बिना किसी लाग-लपेट के, बिना किसी पूर्वाग्रह के देखकर गइराई से समझने का प्रयास करते रहते थे। उनको विभिन्न अलग-थलग दिखने वाली चीजों और आयामों के बीच संबंध देखना अच्छा लगता था और इन संबंधों के आधार पर वे अपनी समझ बनाते थे। और उनकी यह आदत ही उनकी विलक्षणता भी थी। इस प्रकार वे एक व्यापक दृष्टि से चीजों को समझने का प्रयास करते थे।

वे यह समझने की कोशिश करते थे कि मनुष्यों, समाजों, लोक-जीवन, सभ्यताओं के व्यवहार के पीछे क्या कारण है, उनकी जीवन दृष्टि, पीछे छिपी मान्यताएँ क्या हैं, जो उनके कार्य-व्यवहार को संचालित करती हैं। वे इस विवाद में ज्यादा नहीं पड़ते थे कि मान्यताएँ सही हैं या गलत हैं, या कि लोग इन मान्यताओं को समझ रहे हैं या नहीं। वे इसमें ज्यादा रुचि रखते थे कि इसे समझा जाए कि जीवन-दृष्टि या मान्यताओं का कार्य-व्यवहार के साथ क्या संबंध है। उनके हिसाब से जो हो रहा होता है, वह ध्यान देने योग्य है और इसे समझना चाहिए कि इसके

* अध्यक्ष, सिद्ध, हेजलवुड, लेन्डर कैंट, मसूरी-248179 सभार : धर्मपाल-कुछ यादें, लेखक : पवन कुमार

गुप्त, से साभार।

पीछे क्या कारण है। उन कारणों में सबसे महत्वपूर्ण वे सभ्यतागत और व्यवस्थागत कारणों को मानते हैं जो उस समाज की जीवन-दृष्टि से उपजते हैं।

धर्मपाल जी ने भारतवर्ष को, यूरोप को, और वहाँ के लोगों को समझने का प्रयास किया है और ऐसा लगता है कि इसमें वे सफल भी हुए हैं। हर एक समाज की अपनी-अपनी जीवन-दृष्टि होती है जिससे वह अपने और अपने आसपास की दुनिया के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी की वजह से नदी पानी ले जाने वाली एक धारा के बजाए गंगा, यमुना, कावेरी या नर्मदा नाम से सम्मान पाती है और वह जीवन्त हो उठती है। वह सिर्फ मनुष्य के उपभोग की वस्तु नहीं रहती, वरन् कहीं इससे ऊपर उठकर, जीवनदायिनी बन जाती है। वह क्या बात है, जिसे एक सभ्यता के लोग, बिना पढ़े मान लेते हैं, जिससे वे जीवन भर प्रकृति के साथ एक सहज और सम्माननीय रिश्ता बनाने को प्रेरित हो जाते हैं। क्या कारण है कि एक आम भारतीय भी कभी-कभी महान दार्शनिक बातें कर जाता है। और उसी के अनुसार अपने जीवन में आने वाले सुख-दुख को झेलता है। धर्मपाल जी ने इन बातों को जानने का प्रयास किया है।

धर्मपाल जी दुनिया को सफेद और काले, सही और गलत, इन ध्रुवों में नहीं देखते थे। वे सामान्य जीवन, लोक जीवन का सम्मान करते थे और यह मानते थे कि जो लोग सदियों से सहज रूप से जीते आए हैं, उनमें कुछ ऐसा जरूर होगा, जो गौरवशाली है, सम्माननीय है। 'साधारण' और 'आम' उनके लिए सम्माननीय थे और समझने योग्य थे। पण्डित नेहरू के एक अंग्रेजी भाषण, जिसमें उन्होंने आम लोगों को 'टीमिंग मिल्यन्स' कहकर संबोधित किया है, से वे बहुत दुःखी होते थे।

वे मनुष्य को सम्पूर्ण सृष्टि का एक हिस्सा मानते थे और दोनों में एक जुड़ाव को देखने का प्रयास करते थे। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े कैसे व्यवहार करते हैं, इसमें उनकी विशेष रुचि थी। इस प्रकार की किताबों का अध्ययन वे लगातार करते थे, जिनमें जीव-जंतुओं के बारे में गहराई से अध्ययन किया गया हो। जीव-जंतुओं, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों के जीवन में जो व्यवस्था या संगीत दिखलाई देता है, उसे वे बड़ी रुचि से समझने का प्रयास करते थे। जैसे एक बार जब मेरे छोटे बेटे अमन ने उन्हें यह बताया कि मधुमक्खियों के छत्ते में मादा और नर का अनुपात हमेशा ही 1.618 और 1 का होता है तो उन्होंने बड़ी रुचि ली और उसे इसके बारे में अधिक जानकारी हासिल करने के लिए कहा। इस प्रकार की बातें उन्हें हमेशा रुचिकर लगती थीं, जैसे कि शेर और मगरमच्छ दोनों के मुँह पर बैठकर एक खास प्रकार की चिड़िया उनके दांतों के बीच फंसे हुए मांस के टुकड़ों को निकालती है और ये मांसाहारी पशु उस चिड़िया को आराम से ऐसा करने देते हैं और वह चिड़िया उनसे डरती नहीं। ऐसी बातों में उनका बड़ा ध्यान जाता था और वे सोचने लगते थे। वे यह मानते थे कि

हमारे स्कूलों में बच्चों को अपने आसपास के परिवेश की अच्छी समझ होनी चाहिए। वहाँ के पेड़-पौधे, मिट्टी, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ों को अध्ययन वह जरूरी मानते थे। वे यह मानते थे कि आधुनिक पढ़े-लिखे मानव का प्रकृति का अध्ययन बहुत ही अधकचरा है जिसकी वहज से उसने अपने से सबसे अलग किया है और अहंकार में भी डूब गया है। उन्हें लगता था कि शायद प्रकृति का अध्ययन हमारे भारतीय समाज में बहुत गहरा रहा है और सृष्टि में निहित व्यवस्था को समझकर ही हमने अपनी व्यवस्थाएं, अपनी जीवनशैली बनाई है। उन्हें यह भी लगता था कि इन बातों की समझ आज भी हमारे विभिन्न जातीय समूहों में बची है, जिसे हमें दूढ़ना चाहिए।

इसी प्रकार धर्मपाल जी कालगणना एवं इतिहास लिखने के पीछे जो मान्यताएं होती हैं, उनके बारे में भी अक्सर सोचा करते थे और सचेत रहते थे। किसी भी लिखी हुई या बोली हुई बात को बड़े ध्यान से पढ़ते थे और साथ ही लिखने और बोलने वाले पर भी उनकी नजर बराबर रहती थी, क्योंकि जो लिखा या बोला जाता है उसमें भी बोलने व लिखने वाले की मान्यताएं समाविष्ट रहती हैं। इसलिए वे प्रेमचन्द या शरत्चन्द्र को पढ़ते वक्त सिर्फ कहानी नहीं पढ़ते थे, बल्कि इस पर भी नजर रखते थे कि यह कहानी इतिहास के किस कालखण्ड में लिखी गई है, उस समय देश में क्या हो रहा था और लिखने वाले किस मानसिकता से प्रभावित रहे होंगे। कैसी हवाएँ उस समय चल रही होंगी, कैसे प्रभाव यहाँ आ रहे होंगे। प्रेमचन्द जी अपनी एक कहानी में जरसी गाय की बड़ाई अपने किसी पात्र से करवाते हैं। यह बात उन्हें बड़ी अचरज भरी लगती थी कि पश्चिम का प्रभाव हम पर उस समय भी किस कदर छा गया था। इसी के साथ वे यह भी देख पाते थे कि आज भी बहुत सारे लोग जरसी गाय के दूध, मूत्र एवं गोबर एवं देसी गाय के दूध, मूत्र और गोबर के बीच भेद करते हैं। हजारों-लाखों लोगों ने मैथिलीशरण की 'भारत-भारती' पढ़ी होगी, कइयों को कंठस्थ भी होगी। परन्तु धर्मपाल जी जैसे विरले ही होंगे जिनका ध्यान 'भारत भारती' के उस फुटनोट की इस बात पर भी गया होगा कि सन् 1890 और सन् 1900 के बीच भारत में करीब 1 करोड़ 90 लाख लोग भूख, अकाल एवं अत्याचार से मारे गए। इस तरह की बातों पर उनका ध्यान स्वतः ही जाता था और फिर वे इस बात को आगे बढ़ा पाते थे। इस बात को उन्होंने न सिर्फ अंग्रेजों के आने के बाद बड़ी भुखमरी, बड़े अत्याचार से जोड़ा, वरन् जनसंख्या की जो गणना है, उस पर भी उन्होंने कई सवाल खड़े किए। अलग-अलग दिखने वाली चीजों को जोड़कर पिरो पाना, जो शायद भारतीय मानस की कला रही है, उनकी खास बात थी।

वे यह मानते थे कि भारत तकरीबन 100/125 सांस्कृतिक इकाइयों का देश है, जिनकी अपनी-अपनी मान्यताएँ व परम्पराएँ हैं। उन्हें ऐसा लगता था कि इन्हें हमें समझना चाहिए। इस पर शोध होनी चाहिए, क्योंकि इनकी बुनियाद पर जब हमारी अपनी आधुनिकता और अपना विकास खड़ा होगा तभी हममें आत्मविश्वास आएगा।

आत्मछवि व आत्मविश्वास को वे बड़ी चीज मानते थे। उनको यह लगता था कि हमारे देश के विद्यालयों को इस प्रकार के शोध-कार्य करने चाहिए जो इन विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों की मान्यताओं की पड़ताल कर सकें। वहां की कहावतें, लोककथाएँ इत्यादि की छानबीन करनी चाहिए। उन इलाकों में रहने वाले विभिन्न जातीय समूहों के बीच रिश्ते की पड़ताल गइराई से करनी चाहिए। इन जातीय समूहों के बीच दूरी है, भेदभाव हैइस मानसिकता से अलग हटकर, इनके बीच के रिश्ते को, जैसा है, वैसा समझने का प्रयास होना चाहिए। विभिन्न जातीय समूहों की औरतों के बीच भी एक रिश्ता होता है, हंसी-मजाक चलता है, एक-दूसरे की खिंचाई भी होती होगी, चिढ़ाते भी होंगे, ठिठोली भी करते होंगे। ऐसा ही मर्दों के बीच भी होता होगा। एक-दूसरे से वे काम भी करवाते होंगे और एक-दूसरे का काम करते भी होंगे। अनेक प्रकार का लेन-देन भी होता होगा। कभी मिलते होंगे, कभी झगड़ते होंगे। इन सबका अध्ययन होना चाहिए। इस तरह की बातें वे अक्सर करते थे। इसी क्रम में उन्होंने हमें प्रेरित किया कि हम 'People of India' (Anthropological Survey of India) पुस्तक-माला की पूरी शृंखला खरीदें जिसमें भारत के विभिन्न समुदायों का अध्ययन है। इस शृंखला में जिस प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, धर्मपाल जी को बहुत अच्छा नहीं लगता था। लेकिन उनकी प्रेरणा से हम लोगों ने इस बात को देखा कि भारतवर्ष में अनेक मुस्लिम-समुदाय ऐसे हैं जो गाय को, यहाँ तक की माँस को भी नहीं खाते, बल्कि बहुत सारी मुस्लिम-जातियाँ ऐसी हैं, जो अण्डा भी नहीं खातीं। कुछ मुस्लिम-जातियाँ लाल मसूर की दाल व प्याज भी नहीं खातीं। इस प्रकार की बातों में धर्मपाल जी की बहुत रुचि थी और वे चाहते थे कि रुढ़िगत मान्यताओं को, जो आधुनिक पढ़े-लिखे समाज में व्याप्त हैं, चुनौती दी जाए, ताकि वे सहज-दृष्टि से अपने को और अपने समाज को देखने लगे।

इसी क्रम में उन्होंने हमें प्रेरित किया था कि सन् 1880 और सन् 1894 के बीच भारतवर्ष में गो-वध के खिलाफ जो आन्दोलन हुआ था उसके दस्तावेज हम छापें। बहुत सारे लोगों ने इस किताब को बिना पढ़े ही, सिर्फ देखकर ही यह मन बना लिया कि यह कोई हिन्दू मानसिकता से प्रेरित व्यक्ति का काम है। परन्तु अगर दस्तावेजों को पढ़ें तो हमारी बहुत सारी मान्यताएँ बदल जाती हैं। यह आन्दोलन गो-वध के खिलाफ था लेकिन इसमें न सिर्फ सिक्खों और हिन्दुओं ने भाग लिया, बल्कि पारसी एवं मुसलमानों ने भी बड़-चढ़कर भाग लिया। अंग्रेजों के भारत आने के पहले यहाँ साल भर में लगभग 30 हजार गाएँ कटती थीं। उनके आने के बाद यह संख्या प्रतिदिन 30 हजार पहुँच गई। हमारे देश के मुसलमानों को आम तौर पर गाय खाने की आदत नहीं है, यह उनके स्वाद का हिस्सा नहीं है। जबकि अंग्रेजों को 'बीफ' के बिना खाना अधूरा लगता था। इसलिए अंग्रेजी फौज के लिए गाय काटना जरूरी था। अंग्रेज इस आन्दोलन से काफी घबराए और उन्होंने कई तरीकों से इसे सम्भाला।

दस्तावेज खुली दृष्टि से पढ़ने पर यह अपने समाज के बारे में एक सही दृष्टि बनाने में सहायक है। इस दस्तावेज की सहायता से बाद में हम लोग कई महत्वपूर्ण मुस्लिम नेताओं से सम्वाद करने की स्थिति में आए और इस किताब का विमोचन भी लखनऊ में हम लोग शिया धार्मिक नेता काल्वे सादिक साहब से करवा पाए। बाद में देवबन्द के दारुल उलूम के नायब सदर (उपकुलपति) से भी सम्वाद हुआ। मुलसमानों ने तो इसमें रुचि दिखलाई परन्तु दुर्भाग्यवश हमारे अपने हिन्दू भाइयों ने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली। हमारे सेक्युलर भाइयों ने तो इसे देखते ही नजरअन्दाज करने का मन बना लिया। धर्मपाल जी लगातार देश को समझने और फिर लोगों का समझाने का प्रयास करते रहते थे परन्तु मुझे लगता है कि एक तरफ 'सेक्युलर' सोच रखने वाले 'आधुनिक' एवं दूसरी तरफ हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाले, इन दोनों प्रकार के लोगों ने धर्मपाल जी को समझने में भूल की या कहें कि धर्मपाल जी की बात वे समझ नहीं पाए। मैं इसे देश का दुर्भाग्य ही मानता हूँ।

आखिर के दिनों में उनकी रुचि इस बात में बढ़ी की दुनिया के विभिन्न देशों के आपसी रिश्ते सन् 1500 से पहले, जब यूरोप पूरी दुनिया पर हावी होना शुरू हुआ था, किस प्रकार के थे। पिछले 500 सालों में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बड़े रिश्तेधार्मिक, दार्शनिक शैक्षणिक सम्बन्धों के आधार पर न होकर अधिकांशतः दूसरे पर शासन करने या धन लाभ के लिए, व्यापार के तहत ही दिखलाई पड़ते हैं। वे यह मानते थे कि सन् 1500 से पहले की दुनिया और उसके बाद की दुनिया में बड़ा फर्क है और हमें उसकी पड़ताल गैर-यूरोपीय दृष्टि से करनी चाहिए। वे चाहते थे कि हिन्द-महासागर के इर्द-गिर्द जो देश हैं, उनके आपसी रिश्तों का गहराई से अध्ययन हो या इनके बीच जो यात्रा-वृत्तान्त हैं, उनका मूल भाषाओं में अध्ययन हो, न कि यूरोपीय भाषा के अनुवाद के जरिए। इसी सन्दर्भ में उनकी नजर जैन्ग-हो नाम के चीनी नाविक सेनापति पर गई, जो करीब सात दफा समुद्र के रास्ते सन् 1405 और सन् 1430 के बीच भारत आया। तीन-तीन महीने कोचिन में रहा। बंगाल भी गया। वहाँ के राजा गणेश को अपने साथ चीन भी ले गया। उसके वृत्तान्तों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि वह न तो व्यापार की दृष्टि से यहाँ आता था और न ही युद्ध करने। हालाँकि वह अपने साथ तीन सौ जहाजों का बेड़ा और तीस हजार लोगों को लेकर चलता था। वह क्यों आता था, किस दृष्टि से प्रेरित होकर आता था, कोई व्यापार नहीं, धन लाभ नहीं; इसे समझने की जरूरत उन्हें लगती थी। यूरोपीय दृष्टि से इतिहास पढ़ने पर कुछ ऐसा लगने लगता है कि जैसे सुविधा-संग्रह, धन लाभ एवं दूसरे की वस्तु एवं जमीन पर आधिपत्य जमाने के लिए ही यात्रा होती हो। इस दृष्टि ने जैसे हम सबको निगल लिया है। परन्तु धर्मपाल जी मानते थे कि इससे भिन्न भी जीवन-दृष्टि होती थी, है, और इस तरह इतिहास की समझ बनाकर उससे ताकत ली जा सकती है और एक नई

दुनिया के निर्माण की शुरुआत हो सकती है। 'हिन्द स्वराज' को भी और महात्मा गाँधी को भी, वे इन बातों से जोड़कर देखते थे। एक बार उन्होंने मुझसे एक ऐसी किताब का जिक्र किया जिसमें अफ्रीका के किसी इलाके के बारे में कुछ ऐसा अंदेशा लगाया गया है कि वहाँ लगभग चार हजार साल पहले एक बहुत ही नफीस सिंचाई का बन्दोबस्त था, जिसे जिन लोगों ने ऐसा किया था, उन्हीं ने बाद में नष्ट कर दिया। इसी प्रकार वहाँ पहिए का उपयोग भी होता रहा और बाद में खुद ही उन्होंने उसे नष्ट कर दिया। इन बातों को धर्मपाल जी बड़े गौर से देखते हैं और 'हिन्द स्वराज' में जब गाँधीजी 'सच्ची सभ्यता कौन-सी?' वाले अध्याय में हमारे यहाँ की झोपड़ियों, हल एवं यन्त्रों का जिक्र करते हैं, तो उससे जोड़ दिया करते थे।

उनकी सोच की उड़ान इतनी व्यापक होती थी कि उनके साथ यह उड़ान लेने में मजा भी आता था और डर भी लगता था। डर इस बात का लगता था कि यह उड़ान पता नहीं कहाँ ले जाकर पटकेंगी। मुझे ऐसा लगता है कि बहुत सारे लोग ऐसे रहे होंगे जो धर्मपाल जी के साथ यह उड़ान लेने से बीच में ही डर गए और फिर से अपने छोटे से दायरे में सिमट गए। उनके मन में किसी के प्रति द्वेष मैंने कभी नहीं देखा, चाहे वह वामपंथी हो या दक्षिणपंथी, यूरोपीय हो या अमरीकन। उनके लिए सभी कुछ समझने की चीज थीद्वेष की नहीं। एक बार राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के वरिष्ठ नेतृत्व के न्यौते पर वे नागपुर भी गए। सभी प्रकार के लोगों से वे सम्वाद करने के पक्षधर थे। चाहे संघ के लोग हों या मार्क्सवादी, हैं तो अपने ही लोगऐसा वे मानते थे। किसी का भी बहिष्कार उन्हें ठीक नहीं लगता था। पर उनकी बात को, उनके ही कई मित्र भी नहीं समझ पाए। सेवाग्राम में, जहाँ वे रहते थे, वहाँ रहने में भी कई प्रकार की अड़चनें इस कारण आईं। इन सबसे वे दुःखी जरूर हुए पर मन में द्वेष कभी नहीं आया। दुःखी होकर वे जरूर यह कहने लगते थे, "देखो क्या हो गया है। लोग कैसा सोचने लगे हैं।" साधारण लोगों की बातें ध्यान से सुनना, उसको समझना इसका प्रयास वे लगातार करते थे। साधारण में, सामान्य में, असाधारण देख पाने की उनमें आपार क्षमता थी।

सन् 1922 में मुजफ्फरनगर के कांधला गाँव में जन्मे धर्मपाल जी की पढ़ाई-लिखाई बहुत सामान्य तरह से हुई। उनके पास विश्वविद्यालय से प्राप्त कोई डिग्री नहीं थी। अपने पिता के साथ सन् 1942 में बम्बई में गाँधीजी के 'करो या मरो' भाषण को सुनने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। उस उम्र में स्वतन्त्रता संग्राम से जितना जुड़ सकते थे, उतना जुड़े थी। पढ़ाई भी बीच में छोड़ दी। आजादी मिलने के आसपास, मीरा बहन के निकट आए और उनके साथ कई दिनों तक 'पशुलोक' (मीरा बहन द्वारा स्थापित ऋषिकेश के पास एक गाँव) में रहे भी। सन् 1949 में इजराइल और यूरोप के कई देशों का भ्रमण किया। सन् 1948 से सन् 1964 तक 'अवार्ड' नामक संस्था के सचिव रहे। इस संस्था के सन् 1959 से जयप्रकाश नारायण अध्यक्ष रहे।

उसी दौरान देश भर में पंचायती राज संस्थाएँ किस प्रकार कार्य कर रही हैं, इसे समझने के लिए देश के कई इलाकों में इन्हें जाने का मौका मिला। इस दौरान अकस्मात् सौभाग्य से उन्हें कुछ ऐसी बातों का पता चला जिनका आम पढ़े-लिखे भारतीयों को कोई भान नहीं है। जैसे 'बीस-बिसवा पंचायत', जो सरकारी पंचायतों से अलग थी और परम्परा से एक जमाने से चली आ रही थी, का उन्हें पता चला। इसी दौरान दक्षिण में पुराने दस्तावेजों के मार्फत 'सामुदायम' गाँवों का पता चला और फिर यह भी पता चला कि आज भी इस प्रकार के गाँव, भले ही थोड़ी-सी मात्रा में हों, पर मौजूद हैं। इसी प्रकार की छुटपुट परन्तु महत्वपूर्ण बातों का पता लगने से धर्मपाल जी को लगने लगा कि हम अपने देश को ठीक से समझते नहीं हैं। जो छवि देश और समाज के लोगों के बारे में हम पढ़े-लिखों के मन में है, वह गलत है। धर्मपाल जी को लगने लगा कि सम्भवतः हमारे साधारण लोग किसी और मिट्टी के बने हैं, किसी और तरह से सोचते हैं, किसी अन्य तरीकों से निर्णयों पर पहुँचते हैं, जिनका हम पढ़े-लिखों को, अपने ही समाज से कट जाने की वजह से, पता ही नहीं है।

धर्मपाल जी को लगता था की इन बातों की बारीकी से पड़ताल होनी चाहिए। शायद उन्हें गाँधी जी ने जो कहा था या लिखा था, वह याद आता होगा। गाँधी जी की कही उन बातों को जो हम पढ़े-लिखों को पचती नहीं हैं, भले ही हम उन्हें गाँधी जी में आस्था होने की वजह से नकारते नहीं होंधर्मपाल जी ने नई दृष्टि से देखा होगा और यह संकल्प लिया होगा कि इन्हें समझा जाए। समझने के प्रयास में उन्हें शायद यह जरूरी लगा होगा कि पहले यह समझा जाए की अंग्रेजों के आने से पहले भारतीय समाजों की क्या दशा रही होग, उनकी व्यवस्थाएँ कैसी रही होंगी? उनके आपसी रिश्ते किस प्रकार के रहे होंगे, वे अपना काम-काज किस प्रकार चलाते होंगे? अंग्रेजों ने भारतीय स्वतन्त्रता को 'सत्ता हस्तान्तरण' का नाम दिया है। यह सच भी है, क्योंकि स्वाधीन भारत में भी व्यवस्थाएँ तो वैसी ही चल रही है जैसी अंग्रेज बना गए थे। अगर अच्छा हो रहा है तो भी और अगर बुरा हो रहा है तो भी, इस बात का श्रेय उन्हीं को जाएगा क्योंकि हमने व्यवस्थाओं में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किया है। इसलिए धर्मपाल जी को लगा होगा कि एक ऐसे समय का अध्ययन होना चाहिए जब व्यवस्थाएँ अंग्रेजों की बनाई व्यवस्थाओं से भिन्न रही होंगी। इसमें उन्हें अंग्रेजों के पुराने दस्तावेजों का ही सहारा लेना पड़ा, क्योंकि अन्य ऐसे तरीके या ऐसा दस्तावेज उन्हें समझ नहीं आए, जिनका सहारा लेकर इन बातों का पता किया जा सके।

ब्रिटेन का भारत से सम्पर्क सन् 1590 के आसपास से रहा है। सन् 1600 के आसपास ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनी और सन् 1617 में ब्रिटेन के थामस रो ने जहांगीर से यह निवेदन किया कि उन्हें भारत में व्यापार के लिए कुछ केन्द्र खोलने की इजाजत दी जाए। सूरत जैसी जगहों पर उन्होंने अपने केन्द्र खोले, जिन्हें कारखाना या फैक्ट्री

का नाम दिया गया। कुछ दिनों बाद वहाँ पर छोटी-मोटी किलाबन्दी कर दी गई और सामान रखने के लिए गोदाम बना दिए गए। फिर वहाँ छोटी-मोटी बसाहटें बसने लगीं। इन जगहों से नियमित रूप से भारत में होने वाली कार्यवाहियों की रिपोर्ट इंग्लैण्ड जाती थी।

सन् 1748 के आसपास फ्रांसीसी और अंग्रेज भारत के बड़े हिस्से पर अपना कब्जा जमाने लगे। दक्षिण भारत में तमिलनाडु के उत्तर में स्थित आरकोट से लेकर, 10 वर्षों के अन्दर-अन्दर वे भारत के सुदूर तक फैल गए। इसी तरह जून, 1757 से वे बंगाल और बिहार में भी फैलने लगे। सन् 1773 में अंग्रेजों ने अपने द्वारा नियुक्त बंगाल के गवर्नर को गर्वनर जनरल बना दिया। इन सब गतिविधियों ने बहुत सारे दस्तावेजों को जन्म दिया।

सन् 1784 में ब्रिटिश पार्लियामेंट के द्वारा हिन्दुस्तान के काम-काज को देखने के लिए 'बोर्ड ऑफ कमिश्नर्स' की नियुक्ति की गई, जिसका अध्यक्ष ब्रिटिश सरकार का कैबिनेट मंत्री होता था। शुरु में ब्रिटिश प्रधानमंत्री भी इस बोर्ड का सदस्य होता था। यह संस्था सन् 1858 तक यानी 74 साल चली और हिन्दुस्तान पर राज किया। सन् 1858 के बाद इस संस्था को हटाकर इसे ब्रिटिश सरकार के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट में बदल दिया गया। इस समय के तमाम दस्तावेज और पत्र वगैरह उपलब्ध हैं। इस समय भारत को एक सम्पत्ति के रूप में देखा गया और उसकी एक लागत लगाई गई जिसे ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शेयर होल्डरों को दिया और नई नियुक्त हुई भारत सरकार को उस राशि का कर्जदार बना दिया गया। सन् 1947 में आजादी मिलने तक और उसके बाद भी हम यह कर्ज अंग्रेजी सरकार को चुकाते रहे हैं।

इसके अलावा सन् 1773 में जब वारेन हेस्टिंग को हिन्दुस्तान का प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया, उस समय के भी कई महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं, सन् 1784 से सन् 1858 तक गवर्नर जनरलों एवं बोर्ड ऑफ कमिश्नर के अध्यक्ष के बीच पत्र व्यवहार और सन् 1858 के बाद ब्रिटिश वायसरायों तथा सेक्रेटरी और स्टेट के बीच हुए पत्र व्यवहार महत्वपूर्ण हैं। इस जमाने के ब्रिटेन के प्रमुख राजनीतिज्ञों के बीच हुए पत्र व्यवहार भी महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार के तमाम कागजात ब्रिटिश म्यूजियम की इंडिया आफिस लाइब्रेरी में हैं, जिन्हें धर्मपाल जी ने बारीकी से 1960 से 70 के दशक में छान मारा। इन सबसे, भारतवर्ष में उस समय, जो कुछ हो रहा है, उसे अंग्रेज किस दृष्टि से देखते हैं, समझते हैं, उनकी नीति किस समय कैसी है और कैसी बदल रही है, इन सब का कुछ अंदाजा लगाया जा सकता है।

धर्मपाल जी ने इन सारे कागजातों को पढ़कर, देखकर न सिर्फ भारत की समझ बनाने की चेष्टा की, वरन् यह भी समझने का प्रयास किया कि अंग्रेज किस प्रकार सोचते हैं, उनकी परम्पराएं क्या हैं, उनके सोचने के तरीके क्या हैं, और उस सोच का

आधार क्या है, उनकी मान्यताएँ क्या हैं? ध्यान दें तो यह समझ आने लगता है कि हमारी सारी समझने की प्रक्रिया के पीछे मान्यताएँ तो होती ही हैं भले ही उन मान्यताओं को हमने जाना-पहचाना हो अथवा नहीं, पर हर हाल में दृष्टि के पीछे मान्यताएँ होती हैं। धर्मपाल जी ने इन दस्तावेजों के माध्यम से भी और अन्य साहित्य के माध्यम से भी यूरोपियों की दृष्टि, उनकी मान्यताओं को समझने का बड़ा काम किया है। अंग्रेजों ने जो हस्तक्षेप यहां किए वे सब के सब इस दृष्टि से नहीं देखे जा सकते कि वे सब शोषण या लूट के लिए ही थे। बहुत सारे हस्तक्षेप उनकी भारतीय समाज की गलत समझ की वजह से भी निकले। यूरोपियों के हस्तक्षेप से भारत में क्या हुआ, यह तो उन्होंने देखा ही है, परन्तु इस हस्तक्षेप के असर कई स्तरों पर और कई तरह के हुए जिनकी गहराई में धर्मपाल जी जा पाए।

धर्मपाल जी धर्म और अध्यात्म की बातें कम ही करते थे परन्तु मुझे लगता है कहीं बहुत गहरे में वे एक आध्यात्मिक व्यक्ति थे जो अपने व्यक्तिगत जीवन में, हर छोटी-बड़ी घटना का सामना एक दार्शनिक समझ से करते रहे, जो मूलरूप से भारतीय स्वभाव में है। ऊपर-ऊपर से तो वे कई बार बड़ी जल्दी में दीखते थे इस छटपटाहट में कि देश किसी तरह खड़ा हो जाए, एक बड़ा बदलाव जल्द ही किसी भी तरह आ जाए, भारतीय अपने मूल स्वभाव में सहजता से जी सकें। पर साथ ही वे 'जो होना है वह अपने समय से होगा' या 'जो होता है वह ठीक ही होता है, अपनी गति से होता है', जैसी मान्यताओं में गहरे में विश्वास करते भी नजर आते थे। वास्तव में उनका सारा ध्यान वास्तविकता को समझने पर होता था इसलिए वे ज्ञान की किसी भी विधा के दायरे में बंध कर नहीं सोचते थे यह उनकी ताकत थी और यही शायद अन्य अकादमिक लोगों की उनके साथ परेशानी का कारण भी।

धर्मपाल जी विविधता को उसके विभिन्न आयामों में समझते थे और शायद बड़े गहरे में इस विविधता के प्रशंसक भी थे। भौगोलिक परिवेश, सभ्यतागत स्वभाव, जीवन-दृष्टि, मान्यताएँ, अपने आसपास के संसार को समझने के तरीके, कार्य और व्यवहार के बीच कहीं-कहाँ और कैसा सम्बन्ध है, इसे वे लगातार और गहराई से समझने का प्रयास करते ही रहते थे।

व्यक्तिगत स्तर पर हम सभी इस बात को महसूस करते हैं कि कहीं-न-कहीं हर व्यक्ति में अपनी कुछ विशेषता होती है, जिसे कभी हम प्रवृत्ति, रुझान या कभी स्वभाव का नाम देते हैं। इस प्रवृत्ति से, वह व्यक्ति अपने लिए जीवन में जो काम चुनता है अगर मेल खाता है, तो आदमी जरा आराम का, सुख का अनुभव करता है। व्यक्ति की अपनी जिन्दगी, अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल बैठती है तो अच्छा होता है, व्यक्ति सफलता का अनुभव करता है। अन्यथा एक कुण्ठा, एक व्यथा, एक असंतोष की भावना उसे जकड़े रहती है। ठीक यही बात सभ्यताओं और समाजों पर भी लागू होती लगती है। हर समाज व्यवस्थाओं में जीता है। अगर समाज स्वतंत्र होते हैं और

स्वतंत्र रूप से चिंतन कर सकते हैं, तो वे इन व्यवस्थाओं का निर्माण अपनी जीवन-दृष्टि और स्वभाव के अनुकूल करते हैं। परन्तु अगर लम्बी विदेशी हुकूमत के चलते वे स्वतंत्र चिन्तन करना भूल जाते हैं या अपने मूल स्वभाव की पहचान ही धूमिल पड़ जाती है तो फिर व्यवस्थाओं और अपनी सभ्यतागत प्रवृत्ति के बीच तालमेल नहीं बैठा पाते। नतीजतन समाज एक भंवर में फँस-सा जाता है।

आज देश में हम कई प्रकार की समस्याओं से अपने को घिरा पाते हैं और उनसे निकलने के लिए छोटे-बड़े प्रयास भी हो रहे हैं। इन सारी समस्याओं की जड़ तक पहुँचने का प्रयास धर्मपाल जी ने किया है और उनका विश्लेषण अन्य चिन्तकों से भिन्न है। हमारे देश में एक बड़ी धारा यह भी रही है कि व्यक्ति-व्यक्ति की समझ ठीक कर दी जाए तो समाज ठीक हो जाएगा। दूसरी धारा उनकी रही है जो व्यवस्थाओं को बदलने में विश्वास रखते हैं धर्मपाल भी इस श्रेणी में आते हैं। फिर भी उनमें और इस धारा के अन्य लोगों के बीच एक बड़ा भेद है। धर्मपाल जी सभ्यतागत स्वभाव की बात करते हैं और व्यवस्थाओं को इसके अनुरूप ढालने की बात करते हैं। इस तरह की सोच व्यवस्थाओं को बदलने में विश्वास करने वाले तबके में देखने को बहुत कम मिलती है। चूँकि भारत के इस सभ्यतागत स्वभाव में आध्यात्मिक रुझान और विशिष्ट दार्शनिक पहलू भी एक बड़ा स्थान रखता है इसलिए धर्मपाल जी की यह बात उन्हें, जो व्यक्ति निर्माण करके व्यवस्था को बदलने की बात करते हैं, उनके नजदीक ला देती है।

वर्तमान युग में हमारे पास दो विकल्प हैं या तो हम यह मान सकते हैं कि पूरी दुनिया में जो ताकतें, जो सभ्यताएँ प्रभावी दिखती हैं, उन्हीं के रास्ते पर भारत को भी चलना पड़ेगा। या यह मान लें कि नहीं, हमारी अपनी कुछ ताकतें हैं, कुछ सोच है जो इन प्रभावी रुझानों से भिन्न है और हमारे लिए ही नहीं, दुनिया के लिए भी श्रेयकर है, तो फिर धर्मपाल जी जो कह रहे हैं उसे प्रयत्न करके समझना पड़ेगा। अगर भविष्य में जाकर भारतवर्ष, मनुष्यमनुष्य (और विभिन्न देशों के बीच भी) नए प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करके, ज्यादा खुशहाल और सरल जीवन बनाने में सफल होता है तो उसमें निश्चय ही धर्मपाल जी के योगदान को स्वीकार किया जाएगा।

हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता

कैलाशचन्द्र पन्त

किसी भी समाज की जीवन्तता उसमें हो रहे परिवर्तनों से आँकी जाती है। लेकिन हर परिवर्तन का अच्छा ही होना जरूरी नहीं होता। इसलिए एक गतिशील समाज को अपना विवेक भी जागृत रखना होता है। उसमें यह भेद करने की क्षमता तो होना ही चाहिए कि क्या ग्राह्य और क्या अग्राह्य है। यदि उस समाज में यह क्षमता न हो तो परिवर्तन उसके मूल स्वरूप और उसकी आधारभूत संरचना को नष्ट कर देते हैं। इस तरह समाज की मौलिक पहिचान ही समाप्त हो जाती है। सभ्यताओं के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है। रोम, यूनान और मेसोपोटामिया की सभ्यताएँ लुप्त हो चुकी हैं। भारतीय समाज समयानुसार स्वयं में परिवर्तन भी करता रहा और अपने मौलिक स्वरूप से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा भी रहा। आज दुनिया में यह सर्वस्वीकार्य तथ्य है कि भारतीय सभ्यता (आर्य सभ्यता) सबसे प्राचीन सभ्यता है तथा वेद सर्वाधिक पुराने शास्त्र हैं।

इस्लामी आक्रमणों के बाद ही देश में सामाजिक परिवर्तन बहुत तेजी से हुए। अंग्रेजी साम्राज्य की अधीनता में इनकी गति ज्यादा तेज हुई। लेकिन पिछली एक सदी में यूरोपीय सभ्यता के प्रभाव में, जिसे हम मशीनी या प्रौद्योगिकी सभ्यता कह सकते हैं, हमारे सामाजिक ढाँचे में ही परिवर्तन नहीं हो रहे, बल्कि मूल्य भी बदलते जा रहे हैं।

परिवर्तन के इस दौर में जब हम महात्मा गाँधी की छोटी-सी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' की चर्चा करते हैं तो कुछ लोग आशंका जताएँगे कि बीसवीं सदी के प्रथम दशक में लिखी गई पुस्तक की बात इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ में करने की क्या प्रासंगिकता है? इस प्रासंगिकता के सवाल का जवाब पहले दिया जाना चाहिए। मैंने प्रारम्भ में ही कहा है कि परिवर्तनों की ग्रहणशीलता के लिए जागृत विवेक अनिवार्य है। हमें विवेक की कुछ कसौटी तो तय करनी ही होगी। उसे निर्धारित करने का आधार गाँधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में दिया है। यह पुस्तक 1909 में प्रकाशित हुई थी।

तब भारत अंग्रेजों की पराधीनता से गुजर रहा था। अंग्रेज शासक केवल राजनीतिक-आर्थिक शोषण ही नहीं कर रहे थे, वे भारतीयों को उनकी संस्कृति और सभ्यता से उच्छेदित करने का प्रयास भी कर रहे थे। शिक्षा-पद्धति के माध्यम से भारतीयों का 'ब्रेन वाशिंग' किया जा रहा था। इस बात को गाँधीजी ने समझा ही नहीं, हमें समझाने का प्रयास भी किया। जिस समय उन्होंने पुस्तक लिखी तभी उन्हें सन्देह था कि भारत का युवा उनके ख्यालों को शायद पूरी तरह स्वीकार नहीं करेगा। इसीलिए इस पुस्तक में काल्पनिक 'पाठक' पात्र की सृष्टि की है और गाँधीजी ने उसकी शंकाओं का निराकरण किया है। जब हम गाँधी की प्रासंगिकता को समझने की कोशिश करें तो बेहतर होगा एक शंकालु पाठक की हैसियत से उस सम्वाद में शामिल हों जो गाँधीजी अपने पाठकों से कर रहे हैं।

पुस्तक के प्रारम्भ में ही गाँधीजी स्वराज्य की पात्रता के बारे में बतलाते हैं। वे युवाओं के इस उतावलेपन से सहमत नहीं हो पाते कि अपनी पूर्वज पीढ़ी द्वारा किए गए कामों की आलोचना की जाए या भुला दिया जाए। इस सन्दर्भ में वे दादा भाई नौरोजी और गोपालकृष्ण गोखले की चर्चा विस्तार से करते हैं। गाँधी स्पष्ट रूप से कहते हैं जो प्रौढ़ और अनुभवी हैं वे ही स्वराज्य भुगत सकते हैं। गाँधी के इस वाक्य के बड़े संकेत मिलते हैं। वह समाज जो अपनी अतीत की पीढ़ी के कार्यों का मूल्यांकन नहीं कर सकता और जिसमें गहराई नहीं है, गम्भीरता से विषय का विवेचन करने का माद्दा नहीं है वह स्वराज्य न प्राप्त कर सकता है और न ही उसे संचालित ही कर सकता है। यह उल्लेखनीय है कि गाँधीजी ने यह उस समय कहा जब बंग-भंग आन्दोलन की उग्रता युवा पीढ़ी को आन्दोलित कर रही थी। उस दौर का युवा अंग्रेजों से घृणा तो कर ही रहा था, उन लोगों का नाम भी सुनने को तैयार नहीं था जो अंग्रेजों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखते थे। वह अंग्रेजों को भारत से बाहर निकाल देने को व्याकुल था। गाँधीजी इस व्याकुलता को समझकर ही प्रौढ़ (मैच्योर) समाज की बात कर रहे हैं। ध्यान दीजिए यहीं गाँधीजी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं **“हमारे ख्याल के मुताबिक न बरतने वाले देश के दुश्मन हैं, ऐसा मान लेना बुरी भावना है।”** आप अपने देश की स्थिति पर इन बातों को लागू करें तो मालूम पड़ेगा कि गाँधीजी कितने सही थे। देश की राजनीतिक बागडोर जिस लोगों ने सँभाली उन्होंने अपने पूर्वजों के कार्यों पर पोंछा लगाने में अपनी शक्ति नष्ट की। किसी ने सुभाष बाबू, किसी ने वीर सावरकर, किसी ने गाँधी, किसी ने पटेल, किसी ने भगतसिंह और आजाद तथा किसी ने झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के महत्त्व को कमतर दिखाया। उनकी कोशिश रही कि अपना कद ऊँचा कर लिया जाए। यह स्वराज्य को बरतने वाले समाज की मानसिकता नहीं हो सकती, नहीं होनी चाहिए। ऐसा ही समाज पराधीनता में जकड़ा जाता है या आपातकाल की गिरफ्त में ले लिया जाता है। प्रौढ़ता

के अभाव से ही तो विधायक और सांसद आयाराम-गयाराम बन जाते हैं। परिणामस्वरूप राजनीतिक अस्थिरता घेरती है। कितना धन, शक्ति और समय वे अविकसित लोग नष्ट कर रहे हैं इस पर विचार करने की फुरसत भी समाज को नहीं है, प्रतिरोध की बात तो दूर रही।

'हिन्द स्वराज' के विमर्श में सबसे महत्त्वपूर्ण बात स्वराज्य के अर्थ को लेकर है। गाँधीजी की आशंका सटीक थी। गाँधी जानते थे कि भारत के अधिकांश नेता, युवा और जनता स्वराज्य को सीमित अर्थ में ले रही है। उनकी दृष्टि में अंग्रेजों का भारत छोड़कर चला जाना ही काफी था। वह समझते थे कि उनका कानून और विधान, सेना और पुलिस और राजकाज चलाने वाली व्यवस्था यथावत बनी रहेगी। शासन के संचालन में कोई कठिनाई नहीं आएगी। परन्तु गाँधीजी इसके विपरीत अंग्रेजी राज व्यवस्था को ही समाप्त कर सच्ची भारतीय व्यवस्था को स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने कहा “हिन्दुस्तान जब अंग्रेज बन जाएगा तब वह हिन्दुतान नहीं कहा जाएगा, लेकिन सच्चा इंग्लिस्तान कहा जाएगा। यह मेरी कल्पना का स्वराज्य नहीं है।”

हमने क्या आजादी मिलने के बाद सचमुच अंग्रेजों के कानून को कायम नहीं रखा? क्या 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट की हू-ब-हू नकल अपने संविधान में नहीं की? हमने पुलिस, सेना, प्रशासन या न्यायालय की अंग्रेजी व्यवस्था को जस का तस नहीं मान लिया? यहाँ तक कि ब्रिटिश पार्लियामेंट की प्रणाली भी अपना ली जिसे गाँधी जी ने 'बेसवा' कहा था। उन्होंने बेसवा सिद्ध करने के लिए कहा 'अगर उस पर दबाव डालने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे, ऐसी उसकी कुदरती हालत है। और वह बेसवा है क्योंकि जो मंत्रिमंडल उसे रखे उसके पास रहती है। आज मालिक एस्क्वथ है, तो कल बालफर होगा और परसों कोई तीसरा।

इस सन्दर्भ में ब्रिटिश पार्लियामेंट के मेम्बरों के बारे में राय व्यक्त करते हुए गाँधीजी ने लिखा “जब पार्लियामेंट चलती है तब उसके मेम्बर पैर फैलाकर लेटते हैं या बैठे-बैठे झपकियाँ लेते हैं।... पार्लियामेंट के मेम्बर दिखावटी और स्वार्थी पाए जाते हैं।” गाँधीजी की इस धारणा को इक्कीसवीं सदी के भारत की संसद और विधान सभा क्षेत्र पर लागू कर देखें तो लगेगा कि बापू का आकलन कितना सही था। हमारे निर्वाचित प्रतिनिध शोर करते हैं, अपने वेतन-भत्ते बढ़ाते हैं और संसद से या तो गैरहाजिर रहते हैं या मंत्रियों से निजी काम कराते हुए घूमते हैं। आजादी के साठ वर्ष बाद भी किसी सांसद ने जरूरी नहीं समझा कि जनता के बीच भेदभाव पैदा करने वाले संवैधानिक प्रावधानों को समाप्त करने का संशोधन प्रस्तुत किया जाए। भारत का नाम इंडिया क्यों जारी रहना चाहिए? अंग्रेजी को राजभाषा क्यों बनाए रखा जा रहा है? समान नागरिक संहिता क्यों नहीं लागू की जाती? यह विमर्श किसी भी स्वतंत्र देश

की प्राथमिकता की सूची में होना चाहिए था। लेकिन क्या वह है? उत्तर है नहीं। क्यों? क्योंकि हम एक प्रौढ़, विचारशील समाज नहीं बन पाए। इसलिए स्वतंत्रता को हम मनमाने ढंग से बरत रहे हैं। सभी लूट में लगे हैं, अपना घर भर रहे हैं। इस लुटेरी आपाधापी में हमारा ध्यान इस बात पर भी नहीं है कि जनता का विश्वास राजनीतिक व्यवस्था और राजनेताओं पर से समाप्त हो चुका है। गाँधीजी एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु पर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। निर्वाचन प्रणाली में वोटर का धर्मग्रन्थ समाचार-पत्र बन जाते हैं। वे अखबारों से अपने विचार बनाते हैं। अखबार अप्रामाणिक होते हैं, एक ही बात को दो शकलें देते हैं। एक किसी नेता को प्रामाणिक मानेगा तो दूसरा उसे अप्रामाणिक करार देगा। जिस देश में ऐसे अखबार हैं उस देश के आदमियों की कैसी दुर्दशा होगी? हम भारतीयों ने तो पिछले चुनावों में “पेड न्यूज” की नई परंपरा में अखबारों की विश्वसनीयता को नष्ट होते देखा है। क्या गाँधीजी के विचार जो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में व्यक्त किए गए थे आज प्रासंगिक नहीं है? क्या उनमें हमें एक भविष्यद्रष्टा की दूरदृष्टि नहीं दिखाई देती? केवल और केवल इस बिन्दु पर उनकी दृष्टि महात्मा हो जाने की सार्थकता सिद्ध कर देती है।

इन दिनों हमारा देश पूरी तरह पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आता जा रहा है। गाँधी ने उस सभ्यता के बीच रहते हुए अनुभव किया था कि यह सभ्यता बिगाड़ करने वाली है। इस सभ्यता में पल रहे लोग बाहरी दुनिया की खोजों में और शरीर के सुखों में सार्थकता समझ रहे हैं। एक बड़ा ही दिलचस्प उदाहरण देते हुए गाँधीजी वहाँ की सभ्यता की निशानी समझाते हैं। वे कहते हैं पहले लोगों को मार-पीटकर गुलाम बनाया जाता था। आज लोगों को पैसे का और भोग का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है। इस विवेचन में गाँधी जी की दृष्टि भारतीय चिन्तन पर है, जो सुख को बाहरी दुनिया में नहीं, अपने भीतर ढूँढती है। मनुष्य की चिन्ता करने वाले दर्शन और मनुष्य को गुलाम बनाने वाली सभ्यता की सटीक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। आज हम अपने समय में समाज में आए परिवर्तन का विश्लेषण करें तो सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य पैसे की अंधी दौड़ में पागल हो चुका है। वह अपनी मनुष्यता भी खोता जा रहा है। परस्पर प्रेम, सद्भाव और सम्वेदना तो लुप्तप्राय हैं। अर्थ की भूख ऐसा रोग है जो कभी शान्त नहीं होती। हम इस बात से कितने निश्चेष्ट हैं कि डॉक्टरों और अस्पतालों की बढ़ती हुई संख्या के बावजूद रोगियों की भीड़ बढ़ती जा रही है। दुनिया के सामने स्वास्थ्य-सेवाओं का विस्तार एक समस्या बना हुआ है। प्रतिदिन एक नई बीमारी खोजी जाती है और फिर उसके इलाज के लिए औषधि की खोज शुरू हो जाती है। हमें यह भी नहीं मालूम होता कि किस दवा की क्या प्रतिक्रिया होगी। कई लोग तो गलत दवाओं के कारण मर रहे होते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में, समाजों के और राष्ट्रों के

बीच कटुता बढ़ती जा रही है जिसका परिणाम संघर्ष होगा। अब तो सभ्यताओं के संघर्ष की बात खुले तौर पर की जाने लगी है। वर्ग संघर्ष के खतरनाक दौर से गुजर चुकी पश्चिमी सभ्यता फिर एक नए संघर्ष की तैयारी में है। लगता है वह संघर्ष की सभ्यता है। गाँधी इसीलिए भारतीय सभ्यता के पक्ष में खड़े होते हैं, क्योंकि वह समन्वय और सामंजस्य में विश्वास करती है। सभ्यतागत परिवर्तनों के बीच उस शैतानी सभ्यता से क्या ग्रहण करना है और क्या त्याज्य है इसका सामाजिक विवेक तो जगाना ही होगा। चिन्ता इस बात की है कि गाँधी की चेतावनी को हमने आजादी के बाद तेजी से भुला दिया और हमें इस पर गर्व होने लगा कि भारत अब इंडिया बनता जा रहा है।

इस विषय पर गाँधी जी की पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त हुई है—“मेरी पक्की राय है कि हिन्दुस्तान अंग्रेजों से नहीं, बल्कि आजकल की सभ्यता से कुचला जा रहा है, उसकी चपेट में वह फंस गया है।... मुझे तो धर्म प्यारा है, इसलिए पहला दुख मुझे यह है कि हिन्दुस्तान धर्मभ्रष्ट होता जा रहा है। धर्म का अर्थ मैं यहाँ हिन्दू, मुस्लिम, या जरथुस्ती धर्म नहीं करता। लेकिन इन सब धर्मों के भीतर जो ‘धर्म’ है वह हिन्दुस्तान से जा रहा है, हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे हैं।” गाँधी का यह दृष्टिकोण क्या आज की प्रासंगिक नहीं है। धन के लोभ ने हमें अधर्मी बना दिया। सारे पारिवारिक-वैयक्तिक-सामाजिक रिश्तों में आ रही कमजोरी किस बात का सबूत है?

स्वतन्त्रता के बाद हमारे देश में इस विचार को फैलाने की कोशिश की गई कि भारत एक राष्ट्र कभी नहीं रहा। यह तो विभिन्न राष्ट्रों का समूह है। यद्यपि यह धारणा भी उन्हीं बुद्धिजीवियों ने फैलाई जो यूरोपीय सभ्यता की सर्वोच्चता के आगे नतमस्तक हो चुके थे। उनकी गलतफहमी यह थी कि वे पश्चिम में प्रचलित शब्द नेशन का पर्यायवाची राष्ट्र को मान रहे थे। परन्तु पश्चिमी दुनिया में नेशन एक राजनीतिक अवधारणा रही, जबकि भारत में राष्ट्र एक सांस्कृतिक अवधारणा है। हमारे यहाँ धर्म के व्यापक स्वरूप में ही राष्ट्र को समाहित किया गया। फिर भी इस सम्बन्ध में गाँधी जी की व्याख्या पर ध्यान दिया जाए—“आपको यह अंग्रेजों ने सिखाया है कि आप एक राष्ट्र नहीं थे और एक राष्ट्र बनने में आपको सैकड़ों बरस लगेंगे। यह बात बिलकुल बेबुनियाद है। जब अंग्रेज हिन्दुस्तान में नहीं थे तब हम एक राष्ट्र थे, हमारे विचार एक थे, हमारा रहन-सहन एक था। तभी तो अंग्रेजों ने यहाँ एक राज्य कायम किया। भेद तो हमारे बीच बाद में उन्होंने पैदा किए।... जिन दूरदर्शी पुरुषों ने सेतुबन्ध रामेश्वर, जगन्नाथपुरी और हरिद्वार की यात्रा ठहराई, वे मूर्ख नहीं थे। वे जानते थे कि ईश्वर भजन घर बैठे भी होता है। उन्होंने हमें सिखाया कि मन चंगा तो कठौती में गंगा। लेकिन उन्होंने सोचा कि कुदरत ने हिन्दुस्तान को एक देश

बनाया है, इसलिए वह एक राष्ट्र होना चाहिए। इसलिए उन्होंने अलग-अलग स्थान तय करके लोगों को एकता का विचार इस तरह दिया, जैसा दुनिया में और कहीं नहीं दिया गया है। दो अंग्रेज जितने एक नहीं हैं उतने हम हिन्दुस्तानी एक थे और एक हैं। सिर्फ हम और आप जो खुद को सभ्य मानते हैं उन्हीं के मन में ऐसा भ्रम पैदा हुआ कि हिन्दुस्तान में हम अलग-अलग राष्ट्र हैं।”

इस सारे विमर्श को समेटते हुए आज के भारत के लिए सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष गाँधी जी के शब्दों में पढ़ लेना इस पुस्तक की प्रासंगिकता को स्वयं सिद्ध कर देता है

“मैं मानता हूँ कि जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखाई है, उस तक दुनिया में कोई नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोए हैं, उनकी बराबरी कर सकें ऐसी कोई चीज देखने में नहीं आई। रोम मिट्टी में मिल गया, ग्रीस का सिर्फ नाम ही रह गया, मिस्र की बादशाही चली गई, जापान पश्चिम के शिकंजे में फँस गया और चीन का कुछ भी कहा नहीं जा सकता। लेकिन गिरा-टूटा जैसा भी हो, हिन्दुस्तान आज भी अपनी बुनियाद में मजबूत है।”

गाँधीजी और उनके हिन्द-स्वराज की प्रासंगिकता इसी बात में है कि हम भारतीय आत्महीनता की ग्रन्थि से मुक्त हों और जिस वैचारिक दासता के आधीन जी रहे हैं उस जंजीर को तोड़ें।

साहित्य की भारतीय परम्परा

श्रीभगवान सिंह*

जब से हमारा सम्पर्क यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान चिन्तन तथा इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य आदि विषयों से सम्बद्ध लेखन से हुआ, हमारे ऊपर उनके द्वारा परोसे गए विचारों, दृष्टियों का वर्चस्व बढ़ता गया। उनकी हर बात को वैज्ञानिक, तथ्य एवं तर्कसम्मत मानते हुए भारतीय बुद्धिजीवियों, लेखकों के एक बहुत बड़े हिस्से में भारतीय इतिहास, संस्कृति, साहित्य को भी उसी नजरिए से देखने की प्रवृत्ति हावी होती गई। यूरोप के उपनिवेशवादी लेखकों, चिन्तकों से लेकर वैज्ञानिक समाजवाद के पुरस्कर्ता मार्क्स-एंगेल्स द्वारा जो विवेचन-विश्लेषण यूरोपीय इतिहास, संस्कृति, साहित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत किए गए, उसे ही मानक मानकर बहुतेरे भारतीय बुद्धिजीवी भी भारत के इतिहास, संस्कृति, साहित्य पर लागू करते रहे और यह सिलसिला आज भी आजाद हिन्दुस्तान में जारी है। प्रसिद्ध गाँधीवादी चिन्तक धर्मपाल जी के शब्द उधार लें तो यह कहने में भी तनिक अतिशयोक्ति नहीं कि इस यूरोपीय वैचारिकी के वर्चस्व में भारतीय चिन्त, प्रज्ञा एवं मानस को भारत की संस्कृति को समझने में पूर्णतः दरकिनार कर दिया गया।

भारतीय बौद्धिकों के बीच यूरोपीय वैचारिकी के इस वर्चस्व को विडम्बना ही समझना चाहिए क्योंकि आज की तारीख में जब उन यूरोपीय चिन्तकों के सिद्धान्त बहुत हद तक गलत या यूरोपीय नस्ल की श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले प्रमाणित हो चुके हैं, तब भी हमारे कतिपय बुद्धिजीवी उन्हीं नस्लवादी, उपनिवेशवादी चस्मों से अपने देश के इतिहास-संस्कृति-साहित्य को देखने-परखने के प्रयासों में लगे हुए हैं।

मसलन ‘नया ज्ञानोदय’ के मार्च 2010 अंक में छपे एक लेख में मार्क्सवादी आलोचक के रूप में पहचान रखने वाले डॉ. मैनेजर पाण्डेय रणेन्द्र के उपन्यास ‘ग्लोबल गाँव का देवता’ के पक्ष में टिप्पणी करते हुए कहते हैं “ग्लोबल गाँव का

* डॉ. भगवान सिंह, हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, पता : 205, श्याम अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर, बिहार। पिन : 812001, मो. 09801055395

देवता एक ऐसा उपन्यास है जिसमें भारत के, विशेष रूप से झारखण्ड के एक आदिवासी समुदाय का अपने अस्तित्व, आत्म-सम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लम्बे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण है। वह समुदाय है असुर नाम के आदिवासियों का। 'असुर' शब्द सुनते ही हिन्दी पाठकों की कल्पना में ऐसे लोगों का चित्र उभरता है जो विचित्र, भयानक, मायावी, खूंखार, नरभक्षी और असभ्य हों तथा जिनके नाखून और दाँत बहुत बड़े-बड़े हों। असुरों का यह चित्र भारतीय साहित्य में गढ़ी गई और प्रचारित की गई कथाओं तथा धारणाओं की देन है। वैदिक साहित्य से शुरू होकर रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों में निर्मित असुरों की छवि एक ओर उनके समुदाय और जीवन के दानवीकरण और दूसरी ओर उनके जीवन के यथार्थ के मिथकीकरण का परिणाम है। प्रभुत्वशाली सत्ताएँ जिनका विनाश करना चाहती हैं, उनका पहले दानवीकरण करती हैं, फिर उन पर हमला करती हैं और बाद में उनकी जमीन तथा जीवन पर कब्जा करती हैं। भारत में यह प्रक्रिया वैदिक काल से लेकर आज तक चल रही है। यही प्रक्रिया अमेरिका में कोलम्बस के समय से जार्ज बुश के समय तक, अमेरिका के मूल निवासी रहे इण्डियन से प्रारम्भ होकर सद्दाम हुसैन तक चलती दिखाई देती है।”

एक और उदाहरण के रूप में 'अन्यथा' पत्रिका (अंक 15) के लम्बे सम्पादकीय में सम्पादक कृष्ण किशोर का विश्वस्तर पर उपन्यासों का सर्वेक्षण-विश्लेषण देखने लायक है। वे समस्त यूरोपीय उपन्यासों को खगालते हुए इस बात पर असंतोष प्रकट करते हैं कि भारत में या हिन्दी में डॉन क्विजोट से लेकर अन्ना करेनिना जैसे विश्वस्तरीय उपन्यास नहीं लिखे जा सके। उन्हें इस बात का भी क्षोभ है कि भारतीय उपन्यासों में वैसी प्रतिरोधात्मकता-आक्रामकता का अभाव है जो यूरोप की कई औपन्यासिक कृतियों में दिखाई देती है। ऐसे मन्तव्यों को स्वीकार कर लिया जाए तो हमें एक सिरे से भारत की सामासिक संस्कृति, गंगा-जमुनी तहजीब, अहिंसा परमोधर्म, आत्मवत सर्वभूतेषु, वसुधैव कुटुम्बकम् जैसी विशिष्टताओं को खारिज करना पड़ेगा और खारिज करना पड़ेगा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इस उद्घोष को

“भारत के इस महामानव सागर तट पर।
यहाँ खड़े हो, दोनों बाहें फैलाए
नर देवता का नमन करूँ
उदार छन्दों में, परमानन्द से
उनका बंदन करूँ
भारत के इस महामानव सागर तट पर।
कोई न जाने आह्वान पर किसके
कितने-कितने लोगों की न जाने
कितनी दुवारि धाराएँ कहाँ-कहाँ से आईं

और समुद्र में हो गई विलीन।
यहीं पर आर्य-अनार्य
यहीं पर द्राविड़-चीनी
शक, हूण, पठान और मुगल दल
इसी एक देह में हो गए अंतर्लीन।”
(गीतांजलि, गीत संख्या 106 हिन्दी अनुवादडॉ. रणजीत साह)

दरअसल यूरोपीय राष्ट्रों की तर्ज पर भारत में भी वैदिक काल से लेकर अब तक केवल दूसरों को उजाड़ने, विनष्ट करने की प्रक्रिया को देखना या फिर भारत में यूरोपीय ढंग के उपन्यासों या साहित्य का न लिखे जाने पर क्षोभ व्यक्त करना, इस बात का प्रमाण है कि कैसे हमारे ये बुद्धिजीवी अब तक यूरोपीय वैचारिकी की दासता से अपने को मुक्त नहीं कर पाए हैं, फलस्वरूप वे भारत के चित्त और मानस को समझने में असमर्थ रहे हैं। यह कहने में अत्युक्ति नहीं कि यूरोप के उपनिवेशवादी लेखकों के साथ-साथ मार्क्सवादी लेखकों ने भी इतिहास एवं साहित्य-लेखन के क्षेत्र में अपने विचारों का जो जाल रचा उसे ही आधुनिक, वैज्ञानिक और विश्वस्तरीय मान कर हमारे अधिकांश आधुनिकता पसन्द भारतीय लेखक उलझते गए और अब भी उलझते जा रहे हैं। उलझने की इस प्रक्रिया को भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया और मोहक एवं विश्वस्तरीय बनाती जा रही है, जिसका परिणाम है कि हम भारतीय नवजागरण के बौद्धिकों के राष्ट्रीय एवं स्वदेशी चिन्तन पर ध्यान नहीं दे पाते।

सचमुच भारतीय नवजागरण के राजाराम मोहन राय से लेकर बंकिमचन्द्र, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी आदि के चिन्तन और लेखन पर गौर करें तो उनमें पश्चिमी चिन्तन के वर्चस्व से अपने-अपने ढंग से मुक्त होकर अपने इतिहास, संस्कृति, साहित्य को देशी नजरिए से देखने-समझने के प्रयास मिलते हैं जिसे ध्यान में रखकर हम भारत के इतिहास, संस्कृति, साहित्य पर विचार करें तो साफ-साफ पता चलेगा कि हमारे इन क्षेत्रों में बहुत कुछ ऐसा है जो यूरोपीय इतिहास, संस्कृति, साहित्य से न केवल अलग है, बल्कि उनसे बहुत अधिक मूल्यवान और श्रेष्ठ भी है। प्रस्तुत लेख में हम इतिहास और संस्कृति को छोड़ते हुए केवल साहित्य के क्षेत्र में भारत की जो अपनी विशिष्ट परम्पराएँ, दृष्टियाँ रही हैं, उन्हीं के विवेचन पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

ध्यातव्य है कि यूनानी चिन्तक अरस्तू ने इतिहास और काव्य के सत्य में यह अन्तर किया था कि इतिहास का सत्य समय और स्थान सापेक्ष होता है जबकि काव्य का सत्य सार्वभौम और सार्वकालिक होता है। अरस्तू का यह कथन भारतीय लेखकों के बीच भी काफी लोकप्रिय रहा है। एक हद तक बात भी सही है। लेकिन जब हर देश की प्राकृतिक निर्मिति, सामाजिक संरचना, राजनीतिक व्यवस्था, रीति-रिवाज,

जीवन-शैली, साधना-पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, तब इसकी तार्किक परिणति के रूप में मानना ही पड़ेगा कि हर देश का साहित्य भी वहाँ का प्रतिबिम्ब या रचनात्मक अनुकृति होने के कारण एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न होगा। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमारे शीर्षस्थ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह कहा कि “जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है।” (हिन्दी साहित्य का इतिहास) ध्यान रहे शुक्ल जी ‘जनता की चित्तवृत्ति’ में परिवर्तन का श्रेय बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को देते हैं। जाहिर है कि जब हर देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थिति जुदा-जुदा होगी, तो वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति में भी फर्क होगा और तब यह फर्क उनके साहित्य में भी प्रतिबिम्बित होगा। अगर हम यूरोप तथा भारत दोनों की साहित्यिक परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन वहाँ पर विद्यमान रहीं विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखकर करें, तो यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। सबसे पहले हम यूरोप (यूनान) के होमर कृत ‘इलियड’, ‘ओडिसी’ तथा भारत के ‘महाभारत’, ‘रामायण’ जैसे प्राचीन काव्य-ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं।

यूनान की प्राचीन सभ्यता में जिस तरह मनुष्य की मेधा, पराक्रम की प्रधानता रही उसी के अनुरूप ‘इलियड’ और ‘ओडिसी’ की कथा निर्मित है। एथेंस और ट्राय दो नगर हैं और इन दोनों के बीच बीस वर्षीय युद्ध का वर्णन है। ‘इलियड’ में युद्ध की मूल वजह है एथेंस की रानी हेलन का ट्राय के शासक पेरिस द्वारा अपहरण। ‘इलियड’ की कथा इन दोनों नगरवासियों की सैन्यशक्ति के घात-प्रतिघात के इर्द-गिर्द रची गई। अन्ततः एथेंसवासी धूर्तता से ट्रायवासियों को परास्त कर हेलन को मुक्त कराने में सफल होते हैं। ‘ओडिसी’ में ओडीसस नाम का योद्धा दस वर्षों तक नाना प्रतिकूल परिस्थितियों से जुझते हुए अपने नगर वापस आता है, इसकी कथा है। इन दोनों काव्य-कृतियों की कथा में न तो कोई गैरनगरवासी है, न वनवासी, न आम आदमी, न मनुष्येतर प्राणी। दोनों नगरों के बीच युद्ध राजपुरुषों या राज्य द्वारा नियुक्त योद्धाओं द्वारा लड़े जाते हैं। दैवी शक्तियों या अतिप्राकृतिक शक्तियों का जरूर समावेश है। इसके विपरीत है ‘रामायण’ में रामकथा का विस्तार। यहाँ भी अपहृत सीता को मुक्त कराने के लिए राम को रावण से लड़ते देखा जाता है, लेकिन पूरी कथा यहीं तक सिमटी हुई नहीं है। सीता का उद्धार एक बहाना है, पूरे मानव-समाज को रावण के स्वेच्छाचार-अत्याचार से मुक्त कराना उस युद्ध का मुख्य प्रयोजन है।

गौरतलब है कि राम नगर से निकाले जाने पर वन में रहते हैं और रावण से युद्ध करने के लिए वे अपने राज्य अयोध्या से सैनिकों को नहीं बुलाते, बल्कि वन में रहनेवाले बानर-भालू जैसे वनवासियों के मेल से एक नई सेना का गठन करते हैं। राम के इस कार्य में शबरी जैसी मामूली औरत भी शामिल है जो उन्हें सुग्रीव के पास जाने

की सलाह देती है। जटायु के रूप में गिद्ध जैसा पक्षी भी शामिल है। इसके अतिरिक्त रामकथा पिता-पुत्री, माता-पुत्र, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, भाई-भाई, राजा-प्रजा, नगर-गाँव आदि के परस्पर सम्बन्धों, व्यवहारों के साथ-साथ प्रकृति-मैत्री को भी अपने दायरे में स्थान देकर उसे अत्यन्त व्यापकता प्रदान करती है। यह सिर्फ राजपुरुषों, योद्धाओं के पराक्रम की कथा नहीं है, बल्कि मानवीय संवेदनाओं तथा धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, नीति-अनीति जैसे सनातन प्रश्नों को भी अपने अन्दर समाहित करने वाली कथा है। इसी तरह ‘महाभारत’ भी विराट मानव-जीवन का महा-आख्यान है जिसमें नगर, गाँव, वन, पर्वत, नदियाँ, सुर, असुर सब हैं। ऐसा होने का कारण वह भारतीय चित्त है जिसमें मनुष्य की वीरता, पराक्रम से अधिक महत्त्व पूरी सृष्टि के साथ संशुक्तिभाव का रहा। यह विविधता, व्यापकता ‘इलियड’ और ‘ओडिसी’ किसी में नहीं है।

जो लोग भारतीय सभ्यता-संस्कृति एवं ‘रामायण’, ‘महाभारत’ जैसे महाकाव्यों को केवल सुर बनाम असुर के द्वन्द्व रूप में या आर्य बनाम अनार्य के द्वन्द्व रूप में देखते हैं, उन्हें इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि असुर शब्द कालान्तर में एक समुदाय विशेष के बजाय अत्याचार करने, भक्ष्य-अभक्ष्य सब भक्षण करने, शिशुनोदर तक सरोकार रखनेवाली प्रवृत्ति का द्योतक हो गया। तपस्या करने वाले ऋषि-मुनि भी वनों में रहते थे, तो उन्हें उत्पीड़ित करने वाले असुर भी। रावण, वृत्रासुर जन्मजात ब्राह्मण कुल के थे, लेकिन अपने स्वेच्छाचार, अतिशय भोगवादी एवं पर उत्पीड़नकारी प्रवृत्ति के कारण ही असुर कहलाए। ‘महाभारत’ में तो अत्याचारी असुर हिडिम्ब का भीम वध करते हैं, तो उसकी बहन असुर कन्या हिडिम्बा से वही भीम विवाह भी करते हैं और उस हिडिम्बा से उत्पन्न भीमपुत्र घटोत्कच महाभारत के युद्ध में धर्मपक्ष में लड़ते हुए प्राणोत्सर्ग करता है। राम हों या पाण्डव पुत्र ये वनों में जाकर नागर सभ्यता का विकास नहीं करते, किसी वनवासी का आवास नहीं उजाड़ते, बल्कि वनवासी जीवन-शैली के पर्ण-कुटीर जैसे आवास, कन्द-मूल-फल जैसे खाद्य-पदार्थ को ही अपनी जीवन-शैली का अंग बनाते हैं। वस्तुतः ‘रामायण’ एवं ‘महाभारत’ भारत की समावेशी चित्तवृत्ति को अभिव्यक्त करने वाली काव्य कृतियाँ हैं।

इस सम्बन्ध में प्रबुद्ध इतिहास लेखक प्रसन्न कुमार चौधरी का यह मन्तव्य उल्लेखनीय है—“हमारा यह ऐतिहासिक अनुभव हमारी महागाथाओं (रामायण, महाभारत) में भी काफी प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त हुआ है। वनवास अज्ञातवास जैसे प्रसंगों को इस दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। वनवास के दौरान ही प्रमुख चरित-नायक अनेक जनो के सम्पर्क में आते हैं, उनके साथ बंधुत्व कायम करते हैं, उनके बीच उनके होकर रहते हैं, उनकी मुसीबतों में उनकी मदद करते हैं, उनके खान-पान, रीति-रिवाज, उनकी वेश-भूषा आदि से परिचित होते हैं, उनका सम्मान करते हैं, और यहाँ तक कि उनके साथ रक्त-सम्बन्ध कायम करते हैं। भारत के करीब-गरीब सभी

अंचलों में उनकी कथा के सूत्र मिलते हैं। उन क्षेत्रों और जनों की स्मृति में सम्बन्धित क्षेत्रों में अदा की जाने वाली उन जनों की निर्णायक भूमिका सुरक्षित है। उन क्षेत्रों के लोगों और जनों को लगता है कि उनकी भूमिका के बिना इस चरित-नायकों की कथा आगे बढ़ती ही नहीं। इस प्रकार वनवास-अज्ञातवास भारतीय समाज का नेतृत्व करने और शासन करने योग्य क्षमता हासिल करने का प्रशिक्षण-काल साबित होता है। वनवास के इस दीर्घ अनुभव के बाद ही वे राजकाज सँभालने योग्य होते हैं।” (लेख ‘राष्ट्रवाद और हिन्दी समुदाय’, हंस सितम्बर 2010 में प्रकाशित)।

साहित्य की भारतीय परम्परा की एक अन्य खास विशेषता यह रही है कि उसके अन्तर्गत मनुष्य और मनुष्येतर के सह-सम्बन्ध की भी स्वीकृति रही है। ध्यातव्य है कि हमारे आदिकवि वाल्मीकि का आदि श्लोक माने जाने वाला ‘मा निषाद प्रतिष्ठाम त्वमगमाः शाश्वती समाः...’ व्याध के वाण से बिद्ध मिथुनरत क्रीच पक्षी के आर्तनाद से उपजे शोक के कारण ही शब्दों में ढलकर सामने आये। यानी हमारा आदि श्लोक ही निष्ठुर मनुष्य के बरबस एक मनुष्येतर प्राणी-पक्षी के साथ हुए क्रूर कर्म के विरोध में प्रस्फुटित है। ‘रामायण’ का आदि श्लोक पक्षी की पक्षधरता से शुरू होता है, तो ‘महाभारत’ की कथा का अन्त धर्मराज युधिष्ठिर का मनुष्येतर प्राणी श्वान के साथ स्वर्गारोहण के साथ होता है।

मनुष्येतर प्राणियों के साथ पशु, पक्षी, पेड़, पौधे, नदी-पहाड़ आदि के साथ भी मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों का निर्वाह ‘रामायण, महाभारत’ की परवर्ती काव्य कृतियों में भी होता रहा। ‘कुमारसम्भव’ में कालिदास पर्वत-शिरोमणि हिमालय के वर्णन से ही काव्य का आरम्भ करते हैं :

*“अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी बगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥*

(उत्तर दिशा में देवता स्वरूप हिमालय नामक पर्वतों का राजा पूर्व और पश्चिम के समुद्रों में प्रविष्ट होकर पृथ्वी के मानदण्ड की तरह विद्यमान है।)

अपने महाकाव्य ‘रघुवंशम’ में वे राजा दिलीप को नन्दिनी गाय को शेर का शिकार होने से बचाने के लिए खुद को शेर के सामने आत्म-समर्पण करते हुए दिखाते हैं, तो ‘अभिज्ञान शाकुन्तलम’ में शकुन्तला को पेड़-पौधों को घड़े के पानी से सिंचते हुए तथा लता, मृग आदि से उसके आत्मीय रिश्तों का हृदयग्राही चित्रण करते हैं, ‘मेघदूत’ में मेघों को यक्ष का सन्देश-वाहक बनाते हैं; ‘ऋतुसंहार’ में प्राकृतिक छटा का सौन्दर्य उलीच देते हैं। यह है हमारे साहित्य में मनुष्येतर प्राणियों के साथ मनुष्य के मैत्रीपूर्ण आत्मीय सम्बन्धों की अभिव्यक्ति की भारतीय परम्परा।

इसी मनुष्येतर के साथ मनुष्य के गहरे लगाव के रूप में पुराणों में उल्लेखित राजा शिवि की कहानी को देखा जा सकता है जिन्होंने कबूतर को बाज से बचाने के

लिए कबूतर के वजन के बराबर अपने शरीर का माँस देना स्वीकार कर लिया। एक-एक अंग काटकर वे तराजू के दूसरे पलड़े पर रखते गए और फिर भी अंगों का वजन एक पलड़े पर रखे कबूतर के बराबर नहीं हुआ, तो फिर पलड़े पर अपना पूरा शरीर ही रख दिया। यह है एक छोटे-से जीव को बचाने के लिए मनुष्य द्वारा आत्मोत्सर्ग की साहित्य में भारतीय परम्परा की मिसाल। पंचतंत्र, हितोपदेश, जातकआदि कथाओं में पशु-पक्षियों को ही मुख्य पात्र बनाकर मानव-व्यवहार का व्याकरण रचा गया है। कहा जाता है कि ‘पंचतन्त्र’ की कहानियों से ही प्रभावित होकर ईसप ने भी पशु-पक्षियों को अपनी कहानियों का पात्र बनाया। और पण्डित गुणादय की वृहत्कथा के सम्बन्ध में तो यह तो जनश्रुति ही चल पड़ी कि जब राजा शातवाहन ने उनकी रचित कथा सुनने से इनकार कर दिया तो वे अपने को अपमानित महसूस करते जंगल में चले गए और वहीं अपनी कथा का वाचन करने लगे। उसके एक-एक पृष्ठ को पढ़ने के बाद उसे अग्नि कुण्ड के हवाले करते जाते। कथा इतनी मार्मिक थी कि उसे वहाँ के सभी पशु-पक्षी एकत्र होकर सुनने लगे। उन मनुष्येतर प्राणियों ने खाना-पीना तक छोड़ दिया। इन प्राणियों में जब किसी-किसी का वध कर उसका माँस राजा को खाने को दिया जाता तो वह बहुत बेस्वाद लगता। इसका कारण पूछने पर जब व्याधों ने बताया कि कैसे सारे पशु-पक्षी भूखे रहकर गुणादय की कथा सुनने में तल्लीन हैं, तो राजा को होश हुआ और वह दौड़ते हुए जंगल में गुणादय के पास पहुँचा और जितने पृष्ठ आग के हवाले होने से बच गए थे, उन्हें सादर लेकर आया।

इन पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर रची गई कथाओं में कितना सत्य है, कितना असत्य, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है इनके जरिए मानवीय व्यवहार का ज्ञान कराने का प्रयोजन, महत्त्वपूर्ण है मनुष्य के अन्दर इन मनुष्येतर प्राणियों को भी अपने जैसा समझने का आत्मीय भाव पैदा करना। ईसा मसीह ने अपने पड़ोसी को अपने जैसा समझकर उससे प्रेम करने की सीख दी थी, तो इन कहानियों के माध्यम से भारतीय रचनाकारों ने उस सीख से आगे बढ़कर, जिस किसी में जीव है उसे आत्मीय, पड़ोसी समझकर उसके साथ मैत्रीपूर्ण आचरण करने की सीख दी। साहित्य की इसी मनुष्य और मनुष्येतर के सह-सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य को परिभाषित करते हुए कहा कि वह शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा और निर्वाह का साधन है।

साहित्य की भारतीय परम्परा का अवलोकन करते हुए यह प्रश्न भी अत्यन्त विचारणीय हो जाता है कि क्या कारण है कि यूरोप में प्राचीन काल से ही ट्रेजेडी नाटकों का लिखा जाना तथा उस पर विमर्श करनेवाले काव्यशास्त्र का लिखा जाना सम्भव हो सका जबकि प्राचीन भारतीय साहित्य में उसका नितान्त अभाव रहा। हमारे यहाँ भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति जैसे एक-से-एक श्रेष्ठ, कालजयी नाटक लिखने वाले विश्वस्तरीय साहित्यकार हुए, किन्तु उनमें किसी ने भी दुखान्तट्रेजेडी नाटक

की रचना नहीं की। यही नहीं भारत की प्राचीन नाट्य-परम्परा में हत्या, रक्तपात, मृत्यु जैसे दृश्यों का मंचन भी वर्जित रहा जबकि पश्चिम के ट्रैजिक नाटकों में ऐसे दृश्यों की भरमार होती है। इसका कारण जानने के लिए हमें यूरोप तथा भारत की प्राचीन सामाजिक-राजनीतिक संरचनाओं का अवलोकन करना होगा।

यूनान और रोम यूरोप की दो पुरानी सभ्यताएँ हैं जहाँ के सामाजिक-आर्थिक जीवन का अभिन्न अंग था गुलामों का वर्ग। ये गुलाम अपने-अपने स्वामियों के लिए उत्पादक कार्यों से लेकर मनोरंजन तक के कार्य करते थे। सुबह होते ही जलथे-के-जलथे गुलामों को पशुओं की तरह हाँकते हुए खेतों पर ले जाया जाता था जहाँ दिन भर रूखा-सूखा खाकर वे खेती के कार्यों के लिए हाड़ तोड़ मेहनत करते थे। शाम होने पर उन्हें पशुओं की तरह हाँकते हुए लाया जाता था और पशुओं की तरह बाड़े में घुसा दिया जाता था। स्पष्टतः ये गुलाम आदमी होते हुए भी जानवरों से बद्धतर जीवन जीने को अभिशप्त थे। इन गुलामों की जिन्दगी का जो चित्र पं. जवाहरलाल नेहरू ने दिया है वह गौरतलब है—“वहाँ गुलामों की भी बहुत बड़ी संख्या थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नहीं थे। ये लोग तो गायों और कुत्तों की तरह अपने मालिकों की व्यक्तिगत और निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। मालिक अपनी मरजी से इनको बेच सकता था और सजा दे सकता था। मर्दों, औरतों और बच्चों तक को पकड़ने और उन्हें गुलाम बनाकर बेचने के लिए लोग दूर-दूर के देशों में धावे मारा करते थे। प्राचीन मिस्र की तरह पुराने यूनान और रोम के वैभव और बादशाही शान की बुनियाद चारों ओर फैली हुई इस गुलामी की प्रथा पर कायम थी।” (विश्व इतिहास की झलक, पहला खण्ड, पृ. 108)

गुलामों का जितनी बेरहमी से खेती के कार्यों में इस्तेमाल किया जाता था, उससे भी अधिक निष्ठुरता से उन्हें मनोरंजन का साधन बनाया जाता था। कुलीन वर्ग के लोग अपने मनोरंजन के लिए किसी गुलाम को भूखे शेर के सामने छोड़ देते थे और शेर द्वारा गुलाम की जानेवाली दुर्गति से वे अपना मनोरंजन करते थे। इन्हीं गुलामों से कुलीन वर्ग ग्लेडियेटर का गुप बनाकर अपना मनोरंजन करता था। ये ग्लेडियेटर प्राचीन रोम के उन गुलाम पहलवानों के नाम थे जो अखाड़ों में बधनखा पहनकर आपस में एक-दूसरे से लड़ते हुए एक-दूसरे को लहू-लुहान कर देते थे या जंगली जानवरों से लड़ते हुए मारे जाते थे। “दूसरों का खून बहाते हुए देखने के इच्छुक रोम-निवासियों को ये खेल बड़े प्रिय थे।” (उप. पृ. 113)

सचमुच यूरोप में प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक गुलामों के साथ कुलीन वर्ग का बर्बर व्यवहार, निम्नवर्ग के लोगों को दण्डस्वरूप घोड़ों की टापों से रौंदना, हंटर से उनकी पीठ की चमड़ी उधेड़ देना जैसी बातें मामूली-सी थीं। आज भी स्पेन में ‘बुल फाइटिंग’ जैसे क्रूर खेल का चलन कायम है। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर यह मानना पड़ता है कि जब यूनान या रोम के कुलीन लोग वास्तविक जीवन में आदमी

के खून, हत्या आदि से अपना मनोरंजन कर सकते थे तब उनकी इस हिंसा-प्रेमी चित्तवृत्ति के अनुरूप वहाँ पर हत्या, रक्तपात, मौत से भरपूर दृश्यों वाले ट्रैजिक नाटकों का लिखा जाना उसकी स्वाभाविक परिणति के रूप में ही सामने आया। इसके विपरीत भारत में न इस तरह के गुलाम रहे, न मनोरंजन के ऐसे अमानुषिक कृत्य। “यहाँ जो गुलामी थी वह बहुत कुछ घरेलू किस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर गुलाम समझे जाते थे। मालूम होता है, भारत और चीन में गुलाम मजदूर नहीं हुआ करते थे, यानी ऐसे गुलाम नहीं होते थे जिनके झुण्ड-के-झुण्ड खेतों में दूसरी जगहों में काम पर लगाए जाते हों। इस तरह ये दोनों मुल्क गुलामी के, आदमी को सबसे ज्यादा नीचा गिराने वाले पहलू से बचे रहे। (उप. पृ. 109) स्पष्टतः भारत में यूनान एवं रोम की तर्ज पर दास-प्रथा न होने के कारण यहाँ के लोगों के चित्त में आदमी के प्रति वैसी बेरहमी, नृशंसता स्थान न पा सकी जैसी यूनान या रोम के कुलीन लोगों में थी। भारतीय चित्त एवं मानस ने यूरोपीयन ढंग के क्रूर अमानुषिक कृत्य को अपने वास्तविक जीवन में मनोरंजन के लिए स्थान नहीं दिया और उनकी इस चित्तवृत्ति की संगति में सुखान्त नाटक का ही लिखा जाना सहज-स्वाभाविक परिणति के रूप में सामने आया।

स्त्री-छवियों की दृष्टि से भी साहित्य की भारतीय परम्परा पश्चिमी परम्परा से अलग किस्म की रही है। यद्यपि आज के स्त्रीवादी विमर्शकार पूरे पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य को पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता द्वारा पुरुषों के पक्ष तथा स्त्रियों के विरोध में लिखा हुआ साहित्य सिद्ध करने की बौद्धिक कवायद में लगे हुए हैं, किन्तु उनकी यह धारणा पूरी तरह सच नहीं है। सच तो यह है जिस स्त्री सशक्तीकरण की बात इन दिनों की जा रही है, उसका प्रमाण देने वाली अनेक स्त्री-चरित्र भारतीय साहित्य में विद्यमान हैं। ‘महाभारत’, ‘रामायण’ में वर्णित सावित्री, शकुन्तला, द्रौपदी, सीता जैसी स्त्री-छवियों पर गहराई से विचार करें तो उनमें स्त्री-स्वतन्त्रता, अस्मिता, दृढ़ता-सम्पन्न व्यक्तित्व का दर्शन होता है। ऐसी स्त्री-छवियों का प्राचीन यूरोपीय साहित्य में अभाव ही है।

यह मानने से इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे यहाँ भी स्त्री को दासी, निजी सम्पत्ति, भोग्या मानने वाली एक धारा रही है, लेकिन स्त्री की शक्ति, प्रतिष्ठा, महत्ता, सम्मान को स्वीकार करने वाली परम्परा का भी अभाव नहीं रहा। यहाँ पर पितृ देवो भव के साथ-साथ मातृ देवो भव की भी स्वीकृति रही। शक्ति की देवी के रूप में काली, दुर्गा, तो विद्या-ज्ञान-विज्ञान की दात्री के रूप में सरस्वती तथा धन-सम्पत्ति-दात्री के रूप में लक्ष्मी की प्रतिष्ठा कर प्रकारान्तर से स्त्री-शक्ति एवं महत्ता को ही प्रतिष्ठित किया। ‘अर्द्धनारीश्वर’ के रूप में पुरुष और स्त्री दोनों के सम्यक समन्वित रूप को अंगीकृत किया गया। हमारी परम्परा में केवल पितृसत्ता की प्रधानता देखने वाले यह नहीं देख पाते कि पितृसत्ता के साथ-साथ मातृ-सत्ता का भी महत्त्व बना रहा। आज

की पुरुष-सत्ता बनाम स्त्री-सत्ता के बजाय हमारे यहाँ पितृ-सत्ता एवं मातृ-सत्ता का चलन रहा और इन्हीं दोनों तटबन्धों के बीच सामाजिक जीवन प्रवहमान रहा। भीष्म को जितना पिता शान्तनु के नाम से जाना गया, उससे अधिक माता गंगा के गंगा-पुत्र या गांगेय के नाम से जाना गया। पाण्डव-पुत्र माता कुन्ती के नाम से कौन्तेय रूप में अधिक उल्लेखित हैं। कृष्ण देवकीनन्दन, कर्ण राधेय के नाम से मातृ-सत्ता के महत्त्व का ही बोध कराते हैं। राम दशरथ-सुत के साथ-साथ कौशल्यानन्दन के रूप में तथा लक्ष्मण सौमित्र या सुमित्रानन्दन के रूप में भी जाने जाते रहे। हनुमान पहले अंजनी पुत्र हैं, तब पवन-सुत। (अंजनी पुत्र पवन सुत नामा)। वस्तुतः हमारे यहाँ संतानें पितृ-गृह में पिता के नाम से जानी जाती रही हैं, तो ननिहाल में माता के नाम से। आज भी जब कोई स्त्री अपने बच्चों के साथ ससुराल से मायके आती है, तो वहाँ के लोग उन बच्चों की पहचान उसकी माँ के नाम से ही करते हैं, न कि पिता के नाम से। कहने का मतलब यह कि पिता और माता के रूप में स्त्री और पुरुष का हमारे समाज में समान रूप से सम्मानजनक स्थान रहा और यही सामाजिक प्रवृत्ति हमारे साहित्य में प्रतिबिम्बित होती रही। इसके विपरीत यूरोपीय मानस में अरस्तू के समय से ही स्त्री को 'अर्द्धसभ्य मनुष्य' (Half civilized man) मानने की प्रवृत्ति रही; डायन समझी जाने वाली औरतों को जिन्दा जलाए जाने की क्रूर प्रथा रही। हमारे यहाँ सतीदाह की छिटपुट घटनाओं को लेकर उपनिवेशवादियों ने पूरी भारतीय संस्कृति को स्त्री विरोधी सिद्ध कर डाला, लेकिन मध्यकालीन यूरोप में लाख से ऊपर की संख्या में औरतों को डायन कहकर जला दिया गया, इस स्त्री विरोध आचरण पर वे पर्दा डाल रहे हैं। जिस तरह हमारे यहाँ सामाजिक जीवन में स्त्री-पुरुष को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था वह साहित्यिक रचना-शीलता में भी अभिव्यक्त हुआ है। जब मध्यकालीन यूरोप में स्त्रियों के प्रति कठोरता बरती जा रही थी, उस समय मध्यकालीन भारत में मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा नारी-श्रेष्ठता का प्रतिपादन करनेवाली 'पद्मावत' जैसी काव्यकृति लिखी गयी।

आधुनिक युग में मार्क्सवाद के आर्थिक नियतिवाद से मोहाविष्ट लेखकों में साहित्य के क्षेत्र में भी आर्थिक कारकों के विवेचन की प्रधानता देखने की लालसा प्रबल हो उठी। आर्थिक कारकों की गतिशीलता समझने के लिए मार्क्स-एंगेल्स ने शेक्सपियर के *टाइमन ऑफ एथेंस*, गेटे के *फ्राउस्ट* तथा अन्य कई यूरोपीय साहित्यिक कृतियों का उपयोग किया था। उसी तर्ज पर हमारे यहाँ के मार्क्सवाद में दीक्षित लेखक भी पूरी भारतीय परम्परा को अनदेखा करते हुए साहित्यिक कृतियों में केवल आर्थिक पक्ष की प्रधानता का निरूपण चाहने लगे। इस लिहाज से मार्क्सवादी दृष्टि भारतीय साहित्य की संप्लिष्ट, समन्वित परम्परा को समझकर भारतीय चित्त-मानस के अनुरूप साहित्य का विकास करने में अक्षम साबित हुई।

वस्तुतः भारतीय चिन्तन-परम्परा में अर्थ महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कभी सर्वोपरि नहीं रहा धर्म, काम और मोक्ष के साथ अर्थ को भी शामिल कर पुरुषार्थ जीवन के

चार स्तम्भ रचे गए। यहाँ यूनान या रोम की तरह राजनीति या अर्थनीति का विवेचन करने वाले शास्त्र भी रचे गए, जैसे कौटिल्य के अर्थशास्त्र। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से समन्वित समग्र जीवन की अभिव्यक्ति करने वाले महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत जैसे साहित्यिक ग्रन्थों में भी उसकी स्वाभाविक परिणति के रूप में राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, आदि के विवेचन विन्यस्त होते गए। न केवल 'रामायण', 'महाभारत' में बल्कि कलिदास के नाटकों, काव्यों में भी मानव-जीवन से सम्बद्ध नाना विचारों, भावों, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के साथ-साथ राज्य और राजा के प्रजा-जनता सापेक्ष दायित्वों के महत्त्वपूर्ण दिग्दर्शन मिल जाते हैं। प्रजा के प्रति राजसत्ता के दायित्व निरूपण की जो परम्परा प्राचीन भारतीय साहित्य में रही उसका निचोड़ मध्यकालीन कवि तुलसीदास के इस दोहे में मूर्त हो उठा है

*“बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोई।
तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होई ॥”*

भारतीय सन्दर्भ में संस्कृति और साहित्य पर विचार करते हुए इस तथ्य को सदैव ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यहाँ का सामाजिक जीवन और उससे निर्मित हुई संस्कृति का चरित्र मुख्यतः समन्वयात्मक, समावेशी रहा है, अतएव उसको प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य की भी मुख्य प्रवृत्ति समन्वय, समावेश की रही। यहाँ पर आपस में विभिन्न जातियों, समुदायों के बीच संघर्ष जरूर हुए, लेकिन कालान्तर में वे एक-दूसरे के साथ घुलते-मिलते एकमेव हो गए। आज भले ही बुद्धिवादी लोग आर्य-आर्येतर-द्रविड़, सुर-असुर के विभेदों तथा आपसी प्रतिद्वन्द्विता की सनातन प्रक्रिया को उजागर करने की लेखकीय कवायद करें, किन्तु सत्य यह है कि ये सब अन्तर्लीनीकरण की प्रक्रिया में इतने अभिन्न हो गए हैं कि आज की तारीख में यह पहचान करना लगभग असम्भव है कि कौन आर्य है, कौन द्रविड़, कौन सुर वंश का है, कौन असुर वंश का। आज भी कतिपय बौद्धिक राम को आर्य, तो शिव को द्रविड़ों का देवता सिद्ध करते हुए इस विभेद की लकीर को अमिट बनाने में जुटे हुए हैं, लेकिन वे हमारे समाज और साहित्य के इस सत्य को नहीं देख पाते हैं कि ये दोनों देवता इतने अभिन्न हो चुके हैं कि पिता का नाम रामप्रसाद होता है, तो पुत्र का नाम शिवप्रसाद। एक भाई का नाम शिवशंकर होता है तो दूसरे भाई का नाम रामशंकर। एक बहन का नाम पार्वती होता है, तो दूसरी का नाम सीता। इसी अन्तर्ग्रथित समन्वित तथ्य को पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबन्ध 'अशोक के फूल' के माध्यम से सामने रखा था और उससे भी पहले रवीन्द्रनाथ ने "हेथाय आर्य, हेथा अनार्य हेथाय द्राविड़चीन, शक-हूण-दल, पाठान-मोगल एक देहे होलो लीन" कहकर इस तथ्य को उजागर किया था। फिर भी साहित्य के अध्येताओं को लगता है कि भारत में वैदिककाल से आज तक दूसरों को उजाड़ने, विनष्ट करने की प्रक्रिया जारी

है। ऐसी गवेषणात्मक बुद्धि से चमत्कृत हुआ जाए या उस पर अफसोस प्रकट किया जाए?

यह बात दृढ़ता से कहने की जरूरत है कि जैसे सूर्य और चाँद का, दिन और रात का होना शब्दों की बाजीगरी से झुठलाया नहीं जा सकता वैसे ही भारतीय संस्कृति और साहित्य के समन्वयात्मक सामासिक स्वरूप को नहीं झुठलाया जा सकता। यहाँ के सामाजिक जीवन में सक्रिय रही अन्तर्लीनीकरण की प्रक्रिया ने ही यहाँ पर रचे जाने वाले साहित्य को भी समन्वयीकरण की दिशा में प्रवृत्त किया। नगर और गाँव, राजा और प्रजा, आर्य और आर्येतर, मनुष्य और मनुष्येतर, लोक और शास्त्र, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सबका समन्वय दृष्टिगोचर होता है, भारत की संस्कृति और उसकी अभिव्यक्ति करने वाले साहित्य में। आज के नाना विमर्शवादी खाँचों में जिस तरह साहित्य को काटा-बाँटा जा रहा है वह इसकी समन्वयात्मक परम्परा के विरुद्ध है जो उसे न समझ पाने के कारण हो रहा है। आज के दलितवादी जिस भारतीय साहित्य को सिर्फ ब्राह्मणों, सवर्णों का रचा साहित्य मानकर वितुष्णा प्रकट कर रहे हैं, उन्हें नहीं पता कि उस साहित्य के सृजन में जितना योगदान ब्राह्मणों का है, उससे कम योगदान गैर-ब्राह्मणों का नहीं है। इस तथ्य को लक्ष्य करते हुए प्रसिद्ध आलोचक डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल उचित ही कहते हैं—“सूत-मागध-बन्दी इत्यादि पुराण-साहित्य को निर्मित करने वाली और जनता में इस साहित्य को फैलानेवाली जातियाँ हैं। पुराण, जातीय स्मृति के इतिहास हैं जिन्हें इस सूत-परम्परा ने ही बचाया हैपनपाया है और हिन्दू मन में बैठा दिया है। इन ब्राह्मणेतर जातियों ने ब्राह्मणों का साथ दिया ‘महाभारत’ को सौति ने नवीन छवि दी। ज्ञानी रोमहर्षण ‘पौराणिकोत्तम’ कहलाए। वाल्मीकि-व्यास, सौति-नारद, रोमहर्षण ऐतरा-कवष के बिना ‘हिन्दू चिन्तन-परम्परा का प्रवाह तंरगायित सौन्दर्य-छवि खो देता है।” (दलित साहित्य: बुनियादी सरोकार, पृ. 60, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली) डॉ. पालीवाल के इस कथन के बावजूद जिन्हें इस तथ्य को लेकर सन्देह हो, उन्हें किशोर कुणाल की पुस्तक ‘दलित-देवो भव (प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार) तथा पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक ‘अकथ कहानी प्रेम की’, (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली) जिनमें भारतीय साहित्य-संस्कृति के निर्माण में ब्राह्मणेतर जातियों के अवदान का तथ्यसम्मत विशद विवेचन है, पढ़ लेनी चाहिए। एक सत्य यह भी है कि भारत की समन्वयात्मक प्रवृत्ति ने अरब से आए इस्लाम का भी एक हद तक कायान्तरण कर दिया जो अमीर खुसरो से लेकर मुल्ला दाउद, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, रसखान, नूर मुहम्मद, नजीर अकबरावादी आदि की साहित्यिक रचनाशीलता के रूप में सामने आया।

दरअसल भारतीय चित्त एवं मानस में समन्वयात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता रहने के कारण ही हमारे यहाँ शिष्ट या नागर साहित्य और लोक-साहित्य जैसे विभाजन की भी परम्परा नहीं रही। पिछली सदी से लोक-साहित्य की जो चर्चा बलवती हुई वह भी

पश्चिम की नगर प्रधान सभ्यता से सम्पर्क की देन है। हमारे यहाँ ‘लोक’ उपसर्ग लगा कर कोई साहित्यिक कृति नहीं लिखी गई। महाभारत, रामायण से लेकर पुराण, वृहत्कथा, जातक कथाएँ, पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि किसी के साथ लोक उपसर्ग नहीं जोड़ा गया जबकि इन सबमें समस्त लौकिक जगत को ही, जिसमें नगर-गाँव, राजा-प्रजा, स्त्री-पुरुष से लेकर विद्वान-गाँवार, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, जंगल-पहाड़, नदी-समुद्र सब शामिल हैं, विषय बनाया गया है। अलौकिकता का भी लौकिककरण कर दिया गया। स्त्री-पुरुष के स्वच्छंद सम्बन्धों की अराजकता की नकार एकनिष्ठ पति-पत्नी के सम्बन्ध के रूप में सावित्री-सत्यवान या शिव-पार्वती या राम-सीता के जीवन में मिली। अतिशय काम के परिहार के लिए शिव द्वारा मदन-दहन हुआ, अहिल्या-इन्द्र को शापित किया गया। इन कृतियों की कथाएँ समान रूप से नगर से लेकर सुदूर जनपदों, गाँवों, राजभवनों से लेकर गाँवों के झोपड़ों तक रहने वाले अभिजन से लेकर सामान्य जन के बीच प्रचलित रहीं, उनके जीवन की हर साँस से स्पंदित होती रहीं। यही कारण है कि जिस रीतिकाव्य के सृजन में केवल सामंतों की अभिरुचि को केन्द्रीय तत्त्व मान लिया गया, वह भी लोक-जीवन के नाना क्रिया-कलापों, रीति-रिवाजों के चित्रों से भरपूर है जिस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। परम्परा की इस विशिष्टता को पूर्वोक्त लेख में रेखांकित करते हुए प्रसन्न कुमार चौधरी ने उचित ही लिखा है—“भारतीय वैचारिक परम्परा में दूसरी दृष्टि (समावेशी) की प्रभावशाली उपस्थिति देखी जा सकती है। ऋग्वेद और उपनिषदों से लेकर जैन, बौद्ध, तान्त्रिक मतों, सिद्ध-सन्तों के दोहों में, सिख गुरुओं की वाणी में, भक्तिकालीन सूफी-सन्त-फकीरों के दोहों तथा कविताओं में इस दृष्टि का प्रवर्तन अनेक रूपों में हुआ है। इस दृष्टि का चिन्तकों-विचारकों की दुनिया से आगे जाकर आम लोगों तक विस्तार हुआ। विभिन्न जनों, जातियों, समुदायों, भाषाओं-बोलियों, पंथों-सम्प्रदायों, पर्व-त्योहारों, खान-पान, पहनावों, रीति-रिवाजों वाले हमारे देश में यह दूसरी दृष्टि हमारे अस्तित्व की आवश्यक शर्त है।”

इन सारी बातों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि सार्वकालिक और सार्वभौमिक होने की शर्त पूरी करते हुए भी श्रेष्ठ साहित्य अपने देश-समाज की परिस्थिति सापेक्ष चित्तवृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न स्वरूप का भी होता है। इस लिहाज में भारतीय सन्दर्भ में रचे गए साहित्य का चरित्र और स्वरूप पश्चिमी दुनिया में रचे गए साहित्य से बहुत हद तक भिन्न रहा है। यहाँ की संस्कृति और साहित्य में समन्वयात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता रही है जबकि पश्चिमी परम्परा में उसका अभाव रहा है। किन्तु दुर्भाग्यवश यूरोप से आई आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने हमारे अपने इतिहास, संस्कृति, साहित्य सबको देखने-समझने की दृष्टि का पश्चिमीकरण करना शुरू किया और हम अपने जातीय परम्परा, संस्कृति, साहित्य इतिहास-बोध की स्वदेशी चिन्तन परम्परा से उखड़ते गए। पश्चिम में पैदा होते रहे विधेयवादी, यथार्थवादी,

मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय, मनोविश्लेषणवादी जैसे दृष्टिकोणों के समक्ष नतमस्तक होते हम उन्हें अपनाते चले गए और यथार्थ-आदर्श के द्वन्द्व, वर्ग-संघर्ष के उपकरणों का इस्तेमाल करने के बाद अब दलितवादी, स्त्रीवादी उपकरणों से संस्कृति-साहित्य की शल्य-चिकित्सा करने लगे हैं। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान-इतिहास-बोध के वर्चस्व ने हमें अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक परम्पराओं से कैसे उखाड़ फेंका है इसका बड़ा ही मार्मिक चित्र निर्मल वर्मा अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र की खोज' में देते हैं—“अंग्रेजों ने जो विविध प्रशासनिक और राजनैतिक नीतियाँ अपनाईं उन्होंने भारतीय संस्कृति को उसके उस प्राकृतिक आवास से ही उन्मूलित कर दिया जहाँ से वह अब तक अपना अन्तर्निष्ठ स्वरूप पाती रही थी। यह आवास उन मिथकों, प्रतीकों, ईश्वर की छवियों और आस्थाओं से बना था, जो अपने अन्तःप्रथित रूप में ही भारतीय जीवन को अर्थवत्ता देता था। किन्तु ज्यों ही पश्चिम के ऐतिहासिक हस्तक्षेप ने भारतीयों को उनके इस सांस्कृतिक आवास से विस्थापित किया, ये मिथक विश्वास और आस्थाएँ टूट-बिखरकर सिर्फ एन्थ्रोपोलॉजिकल (मानवशास्त्रीय) अवधारणाएँ बनकर रह गईं, जीवन का स्रोत नहीं, सिर्फ अध्ययन और शोध की सामग्री मात्र। जैसे ही एक भारतीय यूरोपीय सन्दर्भ में 'इतिहासीकृत' हुआ, वैसे ही अपने पारम्परिक आत्म-संस्कारों से वंचित भी हो गया। एक हिन्दू की विज्ञान और 'तर्कणामूलक' ज्ञान में 'मुक्तिदायक' आस्था के बढ़ने के साथ ही उसके संस्कारों और अनुष्ठानों, मिथकों और प्रतीकों के उस विन्यास को गम्भीर क्षति पहुँची, जिससे उसका धर्म निर्धारित होता था और जिसके सहारे वह 'विश्व-प्रपंच के पाठ' को पढ़ता था। देवी-देवता वही थे, अनुष्ठानों को पूरी मर्यादा और सम्मान से सम्पन्न किया जाता था, अतीत की स्मृति को धार्मिक त्यौहारों में और जीवन की अर्थवत्ता को महाकाव्यों और पुराणों के पाठ से लगातार पुनरुज्जीवित किया जाता था। लेकिन वे सामाजिक आस्थाएँ, जिनमें हिन्दू अपने 'होने' का तर्क पाता और जिसके सहारे ये संस्थाएँ अदृश्य आत्मन और उसकी प्रत्यक्ष देह के बीच की अनिवार्य कड़ी साबित होती थी, दो शब्दों में कहें तो भारतीय मनुष्य और उसके आत्मन (सेल्फ) को जाड़ने वाले सेतु-स्थल आदि पूरी तरह नष्ट न भी हुए, तो भी उनमें दरारें पड़ गईं।”

इस कथन में जिन 'दरारों की तरफ संकेत है, उनमें आए दिन पश्चिम से आयातित आधुनिकतावाद-उत्तर आधुनिकतावाद, संरचनावाद-उत्तर संरचनावाद, लिंगवाद, अस्मितावाद, विखण्डनवाद जैसे विमर्शों के कारण इजाफा होता जा रहा है। नतीजतन हमारे देश-समाज में भी तनाव, आपसी विद्वेष, संघर्ष, हिंसा की रफ्तार तेज होती जा रही है। जाहिर है सबको एक रागात्मक सूत्र में बाँधनेवाली समन्वयात्मक अन्तःप्रथित संश्लिष्ट भारतीय परम्परा से साहित्य को निकाल बाहर करना शुभ नहीं हुआ। ऐसे में उस भारतीय परम्परा की साहित्य और जीवन में वापसी 'रामबाण' न सही, किन्तु एक बहुत बड़ा उपचार अवश्य सिद्ध हो सकती है अगर हमारे भारतीय लेखक, बुद्धिजीवी

यूरोपीय-अमेरिकी इतिहास-संस्कृति चिन्तन की तर्ज पर भारतीय परम्परा को समझने के दुष्चक्र से मुक्त हो जाएँ, कारण कि संस्कृति एवं साहित्य की पूरी भारतीय परम्परा में सर्वोपरि सत्य के रूप में केवल प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा निर्बलों को विस्थापित करने की प्रक्रिया देखना या फिर यूरोपीय उपन्यासों जैसी भारतीय उपन्यासों में आक्रामकता या अन्ना करेन्निना जैसी स्त्री-छवि के अभाव पर विलाप करना सदियों से भारतीय चित्त, मन, प्रज्ञा को संचालित करने वाले संस्कारों, आस्थाओं से निर्मित जीवन-बोध के प्रति अज्ञान प्रकट करना है।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ :

पुस्तकें

उत्तर-आधुनिकता: बहुआयामी सन्दर्भ; पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'; प्रकाशक: लोकभारती प्रकाशन, पहलीमजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001; प्रथम संस्करण: 2010; पृष्ठ: 314; मूल्य: 350 रुपये।

पत्रिकाएँ

समन्वय साधना पथ; समन्वय, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय चेतना का मासिक; अक्टूबर 2010, वर्ष : 28, अंक : 10; संपादक: न्यायमित्र शर्मा; स्वामी, मुद्रक एवं प्रकाशक: न्यायमित्र शर्मा द्वारा समन्वय कुटीर, सप्त सरोवर, हरिद्वार (ए.ओ.पी.) से प्रकाशित किया; पृष्ठ: 38; मूल्य: 10 रुपये।

मङ्गलम्, मानविकी एवं समाज विज्ञान की अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका; वर्ष: 01, अंक 01; अगस्त, 2010; संपादक: डॉ. दिनकर त्रिपाठी; प्रकाशक: मङ्गलम् प्रकाशन, जी-2 शिवम् अपार्टमेंट (निकट निगम चौराहा), ममफोर्डगंज, इलाहाबाद-211002 (उ.प्र.); पृष्ठ: 160; मूल्य: 100 रुपये।

अदिति, आध्यात्मिक संस्कृति की जीवन प्रस्तुति; बाईसवीं प्रस्तुति श्री अरविन्द जयन्ती 2008; संपादक: सुरेशचन्द्र त्यागी; प्रकाशन: श्री अरविन्द एवं श्री मां के समस्त लेखन के प्रकाशनाधिकारी श्री अरविन्द आश्रम, पुदुच्चेरि द्वारा सुरक्षित; इण्डियन प्रेस, राजेन्द्र नगर, मेरठ-250001 द्वारा मुद्रित; पृष्ठ: 112; मूल्य: 100 रुपये।

बिहार की दशा और विकास की दिशा

डॉ. कुमार विमल*

जब तक असमानता है, तब तक अस्थायित्व बना रहेगा और जब तक अस्थायित्व रहेगा, तब तक प्रभावी शासन नहीं लाया जा सकेगा। जब तक शासन प्रभावी नहीं होगा, तब तक कानून और व्यवस्था की स्थिति में सुधार नहीं आ सकेगा और राहजनी, हिंसा और उठाईगीरी होती रहेगी।

कहा जाता है कि हिन्दुस्तान 'खोये हुए अवसरों' का देश है और कुछ मानी में यह शत्रुमुर्गी का देश है, जहाँ समस्याओं से मुँह छिपानेवाले लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं। समस्याओं से मुँह छिपाने का ही एक परिणाम है स्वातंत्र्योत्तर भारत में बढ़ता हुआ तदर्थवाद (ad hocism) और प्रत्येक उलझी हुई समस्या का अन्तिम (या कठोर) समाधान नहीं ढूँढ कर तथा काम चलाऊ 'प्लुरलिस्टिक कॉम्प्रोमाइज सॉल्युशन' निकाल कर उस उलझी हुई समस्या को और भी उलझा देना या कि दशकों-दशकों तक के समय को 'ट्रान्जिशनल पीरियड' मानकर अपने को समस्या-सहिष्णु बना लेना।

ऐसे ही देश में आबादी के धनत्व से युक्त एक राज्य बिहार है, जहाँ जातिमुखी राजनीति के ध्रुवीकरण ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के कुछ वर्षों के बाद से ही अपना पाँव जमा रखा है। इसलिए बिहार-भूमि एक ऐसी अहिल्या है, जिसका अभिशाप 'दुहरा' है। तथापि यह मानना उचित नहीं होगा कि बिहार राज्य हीफ्रांत्स फानोन के शब्दों का सहारा लें, तो 'रेचेड ऑव द अर्थ' का अधिवास-स्थल है अथवा बिहारयदि हम ग्राहम हॉकॉक के शब्दों में कहें तो 'लॉर्ड ऑव पॉवर्टी' है।

* प्रसिद्ध लेखक, समीक्षक, पूर्व कुलपति; पूर्व अध्यक्ष, बिहार अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड; पूर्व अध्यक्ष, बिहार, लोक सेवा आयोग, आदि। पता : 96, एम.आई. जी.एच., लोहिया नगर, पटना-800020; मो. 09431020950 दूरभाष : 0612-2352944

बालिग मताधिकार के कारण वर्तमान बिहार राज्य में, मुख्यतः जिस वर्ग या जाति-समूह के हाथों में सत्ता आई है, उस जाति-समूह का अपेक्षित या पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रशासन, अधिकार-तंत्र, नौकरशाही और न्यायपालिका में नहीं है। इसलिए बालिग मताधिकार के बल पर सत्ता में आई राज्य सरकार और राज्यस्तरीय जन-प्रतिनिधि उक्त दशा में कई दिशाओं से आ रहे प्रच्छन्न असहयोग और प्रशासनिक अनुभव की अपर्याप्तता के कारण आम जनता को न तो प्रभावी 'शासन' (गवर्नेन्स) दे पाते हैं और न विकास-योजनाओं को, प्रथम दृष्ट्या, अमली जामा पहना पाते हैं।

उपलब्ध इतिहास के अनुसार कुरुष और मलद (बाद में वैशाली, विदेह, पुण्ड्र, अंग और मगध) जनपद से बने बिहार की अस्मिता यदि केवल वायवीय या पुरातन-प्रतिपादक हो, तो उस 'गोलगप्पा' अस्मिता से काम नहीं चलेगा। हमें उस अस्मिता को वस्तुपरक आर्थिक आधार देना होगा और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें बिहार राज्य में अनुस्यूत 'संवृद्धि' (ग्रोथ) की इत-पूर्व अप्रयुक्त, किन्तु, सम्भाव्य अन्तःशक्ति (Untapped growth potential) का दोहन करना होगा। इसके लिए यह कतई जरूरी नहीं है कि 'कम्प्यूटरेसी' (कम्प्यूटर लिटरेसी) के नाम पर हम 'हाई-टेक' हैदराबाद की तरह पटना को 'हाई टेक' बनाने की ओर-आजमाइश शुरू कर दें और पोले या पोंगे और रोजगार-विहीन विकास की गुमाइश लगा दें।

प्रायः कहा जाता है कि बिहार¹ में विकास-कार्य अवरुद्ध है। इस अवरुद्धता का एक प्रमुख कारण राज्य में आन्तरिक संसाधन की कमी है। अपने इतिजामियात (इस्टैब्लिशमेंट) को चलाने में ही बिहार सरकार के राजकोष का 98 प्रतिशत खर्च हो जाता है। दूसरी बात यह कि किसी विकास-कार्य के लिए निर्धारित राशि का बहुत बड़ा हिस्सा, हिन्दुस्तान के अन्य राज्यों की तरह, यहाँ भी 'डेलिवरी मेकैनिज्म' पर खर्च हो जाता है 'ऊपर-ऊपर पी जाते हैं, जो पीनेवाले हैं। तीसरी बात यह है कि विकास-कार्यों के लाभांश का समान वितरण, जन-जागरूकता की कमी और समाज के निचले तबकों की जन्मजात अक्षमता के कारण, हमारे यहाँ नहीं हो पाता है। जो इलाका जो जाति-समूह पहले से विकसित हैं, वही आगे बढ़कर लपक कर नए विकास-कार्यों के लाभांश को हड़प लेते हैं और 'affluence curtain' को नीचे उतरने ही नहीं देते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप विकास के नाम पर हमारे समाज में 'खुशहाल' और 'फटेहाल' के बीच की खाई और भी चौड़ी हो जाती है। यह गौरतलब है कि बिहार जैसे राज्य में विकास के लाभांशों के वितरण में ही 'असमानता' नहीं है, बल्कि 'ऋण तक पहुँच' (access to loans) की क्षमता में भी असमानता है। जो सही मानी में जरूरतमन्द हैं, गरीब हैं, ठेठ देहात और गाँव-गाँव के हैं, उन्हें प्रायः ऋण नहीं मिल पाता है और यदि मिलता है, तो उसे पाने के लिए उन्हें ऋण-राशि का अच्छा खासा प्रतिशत 'स्पीड मनी' या 'ग्रीजिंग मनी' (स्नेहन मुद्रा) के रूप में ऋण मुहैया कराने वाले अभिकरण के कारकुनों को देना पड़ता है। यहाँ ऋण तक उनकी पहुँच अधिक है, जो

तेज-तरार और वाग्मी (वोकल) हैं, अपेक्षाकृत खुशहाल हैं तथा ऋणदाता अभिकरणों (एजेन्सियों) के दफ्तरों में आवाजाही रखते हैं। आशय यह कि ऋण लेने की भी क्षमता का विकास यहाँ गाँव-गाँवई के गरीब अब तक नहीं कर सके हैं। अतः जहाँ वर्ग-विहीन समाज ही नहीं, 'वर्ग-जाति-मिश्रित समाज' (class-caste mix society) है², वहाँ विकास और संवृद्धि के साथ ही विकास और संवृद्धि के लाभांशों के सही और न्यायसंगत वितरण पर भी ध्यान देना होगा। अन्यथा एक ओर ग्रामीण धनाढ्यों की लड़-शक्ति जाति, कुलीनता और वर्ग-हित के आधार पर विभिन्न 'सेनाओं' का गठन करती जाएगी तथा दूसरी ओर उनके वर्चस्व, शोषण और अत्याचार का उग्र विरोध करने के लिए निचले या वंचित तबके के लेग तुपक, तमंचा, बजूका, बारूदी सुरंग की नली और दगाऊ प्रस्फोटकों (detonators) का जुगाड़ कर हिंसक दस्ते गठित करते रहेंगे। यह एक लक्ष्य करने योग्य स्थिति है कि हमारे जो राज्य विकसित और अपेक्षाकृत सम्पन्न हैं, वे दाहिने बाजू की इन्तिहा-पसन्दी (right wing extremism) से ग्रस्त हैं और हमारे देश के जो राज्य अविकसित और अपेक्षाकृत गरीब या विपन्न हैं, वे बाएँ बाजू की इन्तिहापसन्दी (Left wing extremism) से परेशान हैं।

इस पृष्ठभूमि में उस बिहार राज्य का विकास कैसे हो, जिसकी 64 प्रतिशत से अधिक आबादी गरीबी रेखा के नीचे गुजर-बसर करती है, जहाँ गरीबी में प्रतिवर्ष 0.7 प्रतिशत की वृद्धि होती है, जहाँ प्रति व्यक्ति आय अन्य राज्यों की तुलना में सबसे कम है, जहाँ प्रतिव्यक्ति 'गवर्नेन्स' पर खर्च प्रतिव्यक्ति आय से अधिक है, जहाँ लगभग 41 लाख परिवार गृह-विहीन हैं, जहाँ प्रति वर्ग किलोमीटर आबादी³ का घनत्व देश के अन्य भागों के राष्ट्रीय औसत से दुगुना है और जहाँ योजना मद की 50 प्रतिशत राशि और गैर-योजना मद की शत प्रतिशत राशि राज्य-प्रशासन को चलाने एवं 'गवर्नेन्स' (शासन) पर व्यय हो जाती है? इन बिन्दुओं के अतिरिक्त उद्यमिता (interpreneurship) में गतिरोध भी बिहार के विकास में बहुत बड़ा बाधक है। इस गतिरोध को दूर करने में बिहार राज्य के विश्वविद्यालयों में 'dual degree' कोर्स की पढ़ाई भी लाभदायक हो सकती है, क्योंकि मुख्य विषयों के साथ ही किसी, व्यावसायिक विषय में दक्षता प्राप्त कर या उच्चतर डिप्लोमा हासिल कर हमारे युवजन केवल नौकरी पर आश्रित नहीं रहकर अच्छे उद्यमी बन सकते हैं। इसलिए उद्यमिता का द्वार खोलने के लिए बिहार राज्य के विश्वविद्यालयों में मुख्य विषयों (कोर सबजेक्ट्स) की पढ़ाई के साथ ही 'युटिलिटी' पाठ्यक्रमों में उच्चतर 'डिप्लोमा' की उन्नत पढ़ाई की व्यवस्था की जानी चाहिए। राज्य के विश्वविद्यालयों में परम्परागत पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त ऐसे पाठ्यक्रमों को विकसित करना चाहिए, जिससे इस देश के रोजगार बाजार की मांग तथा विकसित देशों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की मांग के अनुरूप युवा पीढ़ी को रोजगार और उद्यमिता के लिए तैयार किया जा सके।

यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि बिहार की गरीबी और विकास की अवरुद्धता विगत दो-तीन दशकों की नहीं, बीसियों दशकों की कमाई है। इसे एक झटके में या किसी जादुई प्रयोग या 'वित्तशाफ़्ट्स वुन्देर' (wirtschaftswunder : 'economic miracle' के लिए प्रचलित जर्मन शब्द) के द्वारा हठात् दूर नहीं किया जा सकता। इसे पूर्वी, सुदूर पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों जैसे जापान, दक्षिण कोरिया, इण्डोनेशिया, सिंगापुर इत्यादि में 'miracle economy', 'wild geese economy' (वनहंस आर्थिक सिद्धांत) या 'Akamatsu's theory' (अकामात्सु वनहंस सिद्धांत) भी कहते हैं।

वर्तमान बिहार को अब तक, एक राज्य के रूप में, उसका सही व्यक्तित्व नहीं मिल पाने के कई कारण हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। यह सच है कि मगध साम्राज्य के काल में बिहार की प्रमुखता रही, शेरशाह ने बिहार (सासाराम) को प्रमुखता दी और अकबर के जमाने में भी, 'आइने अकबरी' के अनुसार, बिहार को लगभग एक सूबे का दर्जा हासिल रहा। किन्तु कम्पनी-शासन के आगमन के साथ ही बिहार की हैसियत में गिरावट शुरू हो गई और सन् 1836 ईस्वी के आते-आते बिहार बंगाल का एक कनीय उपग्रह बन गया, जबकि यह पहले उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रान्तः युक्त प्रान्त) के साथ उसी रूप में वर्गीकृत था। इस तरह बिहार कभी इस पड़ोसी प्रान्त और कभी उस पड़ोसी प्रान्त (उत्तर प्रदेश, बंगाल और उड़ीसा) के साथ जोड़ दिए जाने के कारण एक लम्बे अरसे तक अपनी अलग पहचान बनाने में असमर्थ रहा और अपना आर्थिक विकास भी नहीं कर सका। अतः कालक्रम में शिक्षित मध्यमवर्गीय बिहारियों की यह माँग⁴ जोर पकड़ती गई कि बिहार को एक अलग प्रान्त का दर्जा दिया जाए। इस माँग में सन् 1858 ईस्वी से सन् 1900 ईस्वी की अवधि में अनेक उतार-चढ़ाव आए और अन्त में इसने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, जिसके फलस्वरूप सन् 1912 ईस्वी में (पहली अप्रैल को) बिहार बंगाल से अलग एक पृथक प्रान्त बन गया और उसी वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बिहार प्रान्त की राजधानी पटना में सम्पन्न हुआ। कुल मिलाकर सन् 1857 ईस्वी से सन् 1912 ईस्वी तक बिहार बहुत ही उपेक्षित रहा।

बिहार को अलग प्रान्त की मान्यता दिलाने में और बिहार के शिक्षित मध्यम वर्ग की आवाज को बुलन्द करने में, 'वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट' और 'गैंगिंग प्रेस ऐक्ट' के बावजूद, देशी भाषाओं के समाचार-पत्रों (वर्नाकुलर न्यूज पेपर्स) और पत्रिकाओं, विशेषकर हिन्दी समाचार पत्रों और पत्रिकाओं जैसे, 'सर्व हितैषी', 'बिहार बन्धु' इत्यादि का सराहनीय योगदान रहा है। इस प्रसंग में कुछ अन्य पत्र-पत्रिकाएँ भी स्मरणीय हैं: 'द नादिर अल्-अख्बार' (मुंगेर 1874), 'कसीद', 'द बिहार टाइम्स', 'हिन्दू पैट्रियॉट' 'भारतमित्र' और 'बिहारी'। उक्त सभी पत्र-पत्रिकाओं के बीच पटना

से प्रकाशित 'मोतीचूर' का एक अलग महत्व है, जिसका सम्पादन मुंशी हसन अली किया करते थे। बिहार की मांग को बुलन्द करनेवाली तत्कालीन अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में उल्लेखनीय हैं Bihar Herald, Bihar Times और Hindustan Review.

वर्तमान बिहार के मौजूदा पिछड़ेपन के अन्य अनेक कारणों⁵ में एक प्रमुख कारण यह भी है कि पड़ोसी राज्यों की तुलना में यहाँ उच्च शिक्षा का प्रसार बहुत बाद में हुआ। पहले यहाँ न तो कोई मेडिकल कॉलेज था और न इंजीनियरिंग कॉलेज ही।⁶ बिहार के अलग प्रान्त बनने से पहले शिक्षा के लिए निरुद्धारित निधि या अनुदान का अधिकांश भाग बंगाल के पल्ले पड़ जाता था। अंग्रेजी शासन-काल में विश्वविद्यालयों की स्थापना के इतिहास से भी यह ज्ञात होता है कि प्रमुख पड़ोसी राज्यों की तुलना में कई दशक के बाद बिहार के प्रथम विश्वविद्यालय (पटना विश्वविद्यालय) की स्थापना हुई। इस लम्बे अन्तराल के कारण बिहार की दो-तीन पीढ़ियाँ, देश के बहुत ही निर्णायक दौर में, उच्च शिक्षा के अर्जन में पीछे पड़ गईं। कहा जाता है कि औद्योगिक विकास, आधुनिकता और सामाजिक गतिशीलता (मॉबिलिटी) रेल की पटरियों के साथ दौड़ती हैं। किन्तु, दुर्भाग्य ऐसा कि जब ब्रिटिश राज में पूर्वांचल में रेल की पटरियाँ बिछाई गईं, तो वे रानीगंज तक आकर ही प्रथम चरण में रुक गईं; क्योंकि रानीगंज में 'लेसर ऐश कंटेंट' वाला उत्तम कोटि का कोयला मिलता था और अच्छे कोयले तक पहुँच पाना उस समय व्यापारिक लाभ की दृष्टि से विदेशी शासन को अभीष्ट था। इन प्रमुख कारणों से बिहार में जो पिछड़ापन⁷ बरपा हुआ, उस पिछड़ेपन के केंचुल से बिहार अब तक पूरी तरह बाहर नहीं निकल सका है।

झारखण्ड के अलग हो जाने के बाद अब शेष बिहार के आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए संशोधित गाडगिल फॉर्मूला, कोयले पर केन्द्र से मिलनेवाले 'सेस' और 'रॉयल्टी', भाड़ा समानीकरण नीति इत्यादि की उतनी प्रासंगिकता नहीं रह गई है, जो विभाजन के पूर्व थी। तथापि बिहार के विकास के लिए कच्चे माल की जगह 'फिनिशड प्रोडक्ट' की बढ़त पर बल देना, अपने उत्पादों, विशेषकर कृषि-आधारित उद्योगों के उत्पादों के लिए गृह-विपणन-केन्द्रों की स्थापना के साथ ही दूर-दूर तक अपने बाजार और विपणन की व्यवस्था करना, 'स्पेशल कैटेगोरी' के राज्यों को दी जानेवाली सुविधाओं की मांग करना, 'टैक्स एफर्ट' के आधार पर बिहार के लिए हितकारी आय और करके अनुपात की मांग करना इत्यादि, बिहार राज्य के लिए अब भी आवश्यक है। देश के मानचित्र पर और दुनिया के दायरे में अपनी सही पहचान बनाने में बिहार को इसलिए भी कठिनाई हो रही है कि आजाद भारत के उन चार प्रमुख महानगरों दिल्ली, कोलकाता, मुम्बई और चेन्नई में कोई भी महानगर बिहार में अवस्थित नहीं है, जहाँ 'मास मीडिया' के बड़े-बड़े गढ़ अवस्थित हैं। इसलिए महानगरों में स्थित दूरदर्शन तथा रेडियों के केन्द्रों और राष्ट्रीय स्तर के समाचार-पत्रों

में न तो बिहार की अच्छाइयों को और न ही बिहार के नेताओं, विद्वानों, कवियों, कलाकारों, जन-सेवकों या अन्य विभूतियों को उतना स्थान मिल पाता है, जितना कि प्रमुख महानगर वाले राज्यों तथा उनके निकटस्थ राज्यों को और उनके अव्वल ही नहीं, दोयम दर्जे के व्यक्तित्वों को भी मिल जाता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इन सभी कारकों से उत्पन्न क्षेत्रीय असन्तुलन की पहचान कर बिहार, समय रहते, आन्दोलित नहीं हो सका और वह स्वतन्त्र भारत में भी अवरूद्ध विकास की चपेट में पड़ गया।

बिहार की गरीबी और अवरूद्ध विकास के विभिन्न-पक्षीय कारणों की खोज के सन्दर्भ में एक बात यह भी सामने आती है कि जिस तरह सन् 1960 ईस्वी के दशक में उत्तर प्रदेश-विशेषकर पूर्वी उत्तर प्रदेश की गरीबी और उसके कारणों के अध्ययन-विश्लेषण के लिए तथा उस गरीबी को दूर करने के उपायों पर सुझाव देने के लिए गहमरी आयोग का गठन किया गया था, उसी तरह बिहार (शेष बिहार) की गरीबी पर भी अद्यतन और प्रामाणिक प्रतिवेदन के लिए एक सुयोग्य आयोग का गठन किया जाना चाहिए। साथ ही, गहमरी आयोग के प्रतिवेदन को पण्डित जवाहर लाल नेहरू द्वारा, संसद के भीतर और बाहर, जैसी अहमियत दी गई थी, वैसी ही अहमियत बिहार की गरीबी पर प्रस्तावित आयोग के प्रतिवेदन को बिहार के सत्ता-केन्द्र द्वारा दी जानी चाहिए। बंटवारे के पूर्व सम्पूर्ण बिहार के 57 जिलों की समाजार्थिक रूप-रचना (सोशियो-इकॉनॉमिक प्रोफाइल) में जो भिन्नता थी, उस भिन्नता का विस्तार झारखण्ड के अलग हो जाने के बाद विभाजित बिहार के 37 जिलों में घट गया है। अब शेष बिहार के 37 जिलों की समाजार्थिक रूप-रचना में उतनी भिन्नता नहीं है, जो विकास के लिए स्वीकार किए गए किसी 'मॉडेल' और विकास-कार्यक्रमों के किसी 'डिजाइन' में कुछ जिलों की 'टोपोग्राफ', और 'टोपोलॉजी' के अनुसार, बहुत बड़ी भिन्नता या तर्मीम की मांग करे। बिहार-विभाजन के बाद बदली हुई परिस्थिति में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जिस तरह राज्य सरकार के योजना विभाग द्वारा सन् 1970 ईस्वी में तत्कालीन (यानी अविभाजित) बिहार राज्य के सभी जिलों को जिला योजना बनाने के लिए कहा गया था, उसी तरह शेष बिहार के सभी जिलों को परिवर्तित परिस्थिति में जिला-योजना बनाने के लिए अपेक्षित निर्देश दिए जाएँ।

ओक्तावियो पाज (स) का कहना था कि मैक्सिको में, उत्तरी अमेरिका के देशों की तरह, 'नवजागरण' सही मानी में कभी आया ही नहीं, जिसके कारण वह उत्तरी अमेरिका की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ रह गया। तो क्या बिहार में भी बंगाल की तरह सही मायने का नवजागरण कभी आया ही नहीं? बिहार के पिछड़ेपन का, बिहार की अस्मिताहीन मानसिकता का और बिहार की (तथाकथित) निष्प्रभ छवि का एक बहुत बड़ा कारण यह भी हो सकता है कि नवजागरण का प्रभंजन बिहार को बाहर

ही बाहर छूकर निकल गया। नवजागरण-काल में बंगाल के अन्तर्गत अनेक सांस्कृतिक महापुरुष हुए—हेनरी लुई विवियन दिरोजियो, आचार्य कमल कृष्ण, गोष्ठीपति राधाकन्त देव, प्रशान्त बुद्धिजीवी अक्षय कुमार दत्त, ब्रजेन्द्र नाथ सील, रामतनु लाहिड़ी, विद्यासागर, मधुसूदन दत्त इत्यादि। सन् 1861 ईस्वी में जनमे रवीन्द्र नाथ भी उस 'बंगाल रिनैसाँ' की उपज थे, जिसका काल सन् 1800 ईस्वी से सन् 1860 ईस्वी तक माना जाता है। किन्तु, उक्त नवजागरण-काल में, जबकि बिहार भी बंगाल प्रेसिडेन्सी का ही एक उपेक्षित भू-भाग था, बिहार क्षेत्र के अन्तर्गत नवजागरण-कालीन ऐसे सांस्कृतिक महापुरुषों की आकाशगंगा देखने को नहीं मिलती।

उक्त पृष्ठभूमि में मुख्य विचारणीय विषय यह है कि क्या इस देश के हिरावल सूबे बिहार का विकाससर जॉन हुल्टन के शब्दों में 'भारत के हृदय-भाग' बिहार⁸ का विकास, उसकी अस्मिता को भाषा के आधार पर पुनर्गठित राज्यों के 'हाइपर पैरोकियल क्रेडो'⁹ की तरह उकसाते हुए क्षेत्रीयतावादी नमूने (रिजनलिस्ट मॉडेल) पर किया जाए और भाषाई-सांस्कृतिक उद्दीपनों का सहारा लेकर, यथाकुप्पम में स्थापित 'ट्रेविडियन युनिवर्सिटी'¹⁰ जैसे भाषाई-सांस्कृतिक-शैक्षिक माध्यम से 'ब्लॉक रिजनलिज्म' के संवेदन-वर्द्धक (सेन्सिटाइजर) का काम लेकर, पृथकतावाद तक पहुँचाने वाली 'उपनागरिकता' या दबंग क्षेत्रीय अस्मिता को हवा दी जाए? शीत युद्धोत्तर (पोस्ट-कोल्डवार) काल में, भूमण्डलीकरण (ग्लोबलाइजेशन) के प्रतिक्रिया-स्वरूप पैदा हुए 'समकालीन क्षेत्रीयतावाद' के संदर्भ में भी हमें इस बहुकोणात्मक काटेदार प्रश्न से जूझना होगा। इस देश में राष्ट्रीयता को पछाड़ देनेवाली उपराष्ट्रीयता¹¹ और क्षेत्रीयता इस तरह परवान चढ़ गई है कि सर्वोच्च न्यायालय के स्पष्ट निर्देश के बावजूद आज तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच कावेरी जल-विवाद सुलझ नहीं पा रहा है। जहाँ दुनिया में 'ट्रेक्वार्ट' ('Trekvart' डच भाषा का शब्द, जिसका मानी हैसिंचाई और आदमी-असबाब ढोने के लिए देश-व्यापी नहर-व्यवस्था) की चर्चा हो रही है और भारत में भी नदियों के जल के विवेकपूर्ण सम-वितरण के लिए 'गारलैंड कनाल' अथवा 'नैशनल वाटर ग्रिड' की स्थापना पर विचार किया जा रहा है, वहाँ भारत के 'कोर कल्चर' का अग्रचारी नेतृत्व करनेवाले और अपनी राज्य-सीमा में मगही, मैथिली, भोजपुरी इत्यादि जैसे भाषाई माध्यमों या औजारों से निर्मित बहुवर्णी सांस्कृतिक पटल (cultural osmosis) को सुरक्षित रखने वाले बिहार राज्य को भावुकतापूर्ण और (स्वभावतः) संकीर्ण उपनागरिकता की ओर उन्मुख करना कहाँ तक उचित होगा? प्रायः यह देखा जाता है कि उपराष्ट्रीयता की अन्तिम परिणति 'ऑटोनॉमी' (autonomy) की मांग और सांस्कृतिक अहंमात्रवाद (Cultural solipsism) के उदय में होती है। क्या हम 'उपराष्ट्रीयता'¹² के झोंझ में इस देश के एक और राज्य को झोंक कर भारत की राष्ट्रीय एका के कमजोर लिफाफे को और भी कमजोर नहीं बना

देंगे तथा भारत को खण्ड-खण्ड के डबजोड़ (dovetail) से बना एक 'नोशनल नेशन'¹³ बनने के लिए विवश नहीं कर देंगे? भारत की भाषा-समस्या के समाधान और राज्यों के भाषाधार पुनर्गठन पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी द्वारा गठित 'जे.बी.पी.' (जवाहर लाल नेहरू, बल्लभ भाई पटेल और पट्टाभि सीता रामैया) कमिटी के प्रतिवेदन में अपनी विमति-टिप्पणी (नोट ऑव डिसेन्ट) लिखते हुए सरदार पटेल ने भारतीय संविधान बनने के वर्षों पहले लिखा था कि इस देश की राष्ट्रीय एकता का आवरण बहुत ही दुर्बल है, जिसको भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन और भी दुर्बल बना देगा। किन्तु, सरदार पटेल की यह चेतावली उस समय, शायद, इस लिए भी अनसुनी कर दी गई कि इसके पूर्व सन् 1928 ईस्वी में पंडित मोतीलाल नेहरू उस 'नेहरू रिपोर्ट' में भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की अनुशंसा कर चुके थे, जो रिपोर्ट उन्होंने 19 मई, 1928 ईस्वी को 'ऑल पार्टीज कॉन्फरेन्स' के बम्बई अधिवेशन में भारत के भावी संविधान के आधारभूत सिद्धांतों के निर्धारण के लिए गठित कमिटी के अध्यक्ष की हैसियत से 'सर्वदल सम्मेलन' के सभापति डॉ. ए. अंसारी के समक्ष उपस्थापित की थी।

भाषा बहुत ही खतरनाक संवेदन-वर्द्धक (सेन्सिटाइजर) है। राष्ट्र की भावात्मक एकता उसकी रक्षा के लिए भाषिक सहिष्णुता धार्मिक सहिष्णुता से भी अधिक आवश्यक है। सच पूछिए तो मुकामी मामलों में भाषा, धर्म की तुलना में, अधिक शक्तिशाली कारक है, जिसका एक पड़ोसी नमूना 'उर्दू बरक्स बांग्ला भाषा' के कारण धर्मतांत्रिक (Theocratic) पाकिस्तान को खण्डित कर पूर्वी पाकिस्तान का 'बांग्ला देश' बन जाना है। 28 मार्च, 1948 ईस्वी को ढाका विश्वविद्यालय परिसर में जिन्ना द्वारा अंग्रेजी में दिए गए इस आशय के भड़काऊ भाषण का प्रभाव वहाँ की युवाशक्ति पर नहीं पड़ा कि बांग्ला भाषा इस्लामी देश पाकिस्तान की शासनिक भाषा कभी नहीं बन सकती; कारण, बांग्ला भाषा 'हिन्दू मूल' की भाषा है। किन्तु, इस तर्क को निरर्थक करार देते हुए पूर्वी पाकिस्तान बांग्ला भाषा-आन्दोलन के 'एकूशेर रक्ते' की याद में, अन्ततोगत्वा 'बांग्ला देश' बन गया।

आज के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में, जहाँ एक विश्व-रूपी 'ग्लोबल विलेज' की परिकल्पना चरितार्थ होने जा रही है, वहाँ ऐसी क्षेत्रीयता, क्षेत्रीय अस्मिता अथवा ऐसे स्थानीय लोकाचरित उत्साह (लोकल इथॉस) का भावुक उद्वेलन कहाँ तक युक्ति-संगत है? आज के वैश्विक दौर में अन्तर क्षेत्रीय गतिकी (डाइनैमिक्स) या गत्यात्मकता की बात अवश्य की जा सकती है। किन्तु, पूरी दुनिया के एक 'गाँव'जैसा बन जाने की संभाव्य स्थिति के बाद 'क्षेत्रीयतावाद' को इस राज्य में पुनर्जन्म देना क्या एक पिछड़ा हुआ या पश्चगामी कदम नहीं होगा? एक प्रश्न यह भी उभरता है कि जिस तरह राष्ट्रीयता का जोरदार माहौल बनाकर और राष्ट्र की भावनात्मक एकता को स्वातंत्र्योत्तर भारत में अपने 'एजेन्डा' का पहला मुद्दा बनाकर दशकों तक, यहाँ के सामाजिक

संस्तरण, वर्ग-संरचना और न्याय-व्यवस्था में समाज और सत्ता के 'पिरामिड' के ऊपरी भाग पर काबिज सुविधा-भोगियों ने कोई सार्थक आन्तरिक बदलाव नहीं होने दिया, क्या उसी तरह 'उपनागरिकता' के उद्बुद्ध होने पर उसकी छाया में इस राज्य के अन्तर्गत पैदा हुए सामाजिक अदल-बदल के उत्प्रेषण को गताल खाते में डालने की साजिश यथास्थितिवादी (स्टेटसकोइस्ट) ताकतें तो नहीं कर बैठेंगी? तर्क-युक्ति और अनुभव के आधार पर यह प्रश्न भी हिनहिनाते घोड़े की तरह सामने दौड़ जाता है कि क्या एक बार उपनागरिकता की भावना के उद्बुद्ध हो जाने के बाद वह उपनागरिकता राज्यस्तरीय क्षेत्रीयता तक ही सीमित रह जाएगी अथवा विभक्त और गुणित होकर उपक्षेत्रीय सांस्कृतिक सत्वों (सब रेजिनल कल्चरल एन्टीटीज) को उकसाते हुए भविष्य में बिहार के विखण्डन की समस्या पैदाकर देगी? इन गम्भीर प्रश्नों का एक सतही उत्तर तत्काल यह सामने आता है कि जिस तरह राष्ट्रीय चेतना अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण और विश्व-बोध के अर्जन में बाधक नहीं होती, उसी तरह उपनागरिकता या क्षेत्रीय अस्मिता, अनिवार्यरूपेण, राष्ट्रीय चेतना के संवहन और विकास में बाधक नहीं होगी। किन्तु, गम्भीर प्रश्नों का सतही समाधान हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकता।

हालिया सालों में जिस तरह केन्द्र कमजोर हुआ है, देश में राष्ट्रीय एकता के अपकारकों की जितनी वृद्धि हुई है, जिस गति से पृथकतावादी शक्तियों ने सिर उठाया है, संविधान की अष्टम सूची में प्रवेश पाने के लिए हमारे देश की अनेक भाषाओं में जैसी आपा-धापी मची हुई है और देश के भीतर आतंकवादी हादसों की जैसी बारम्बारता बढ़ी है, उन पर एक समग्र दृष्टि अपनाते हुए और अंगूठे के बल उचक कर खड़े हुए ऊपर अंकित सवालिया निशानों का गम्भीर हल ढूँढ़कर हमें बिहार के विकास और उसकी छवि के सही प्रक्षेपण (प्रॉजेक्शन) के लिए उपनागरिकता और क्षेत्रीयता को ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि इन खामियों, दुर्दशाओं और विपरीत परिस्थितियों के बीच भी एक 'नया' बिहार जन्म ले रहा है एक 'नया बिहार' बन रहा है। कारण, बिहार एक 'विचार' है 'विचारधारा' है; केवल एक 'राज्य' या 'प्रान्त' नहीं।

संदर्भ

1. हिन्दी भाषी 'क' क्षेत्रीय राज्य बिहार हिन्दी पट्टी, गाय पट्टी, गोबर पट्टी या बीमार पट्टी के अन्य राज्यों की तरह नहीं, नहीं उनसे भी अधिक पिछड़ा हुआ है। शायद, यह बिहार की हिन्दी सेवा का वरदान है। निराला ने 'सरोज-स्मृति' शीर्षक कविता में, पिता के रूप में अपने जीवन की पराजय को लक्ष्य कर उचित ही लिखा था 'सोचा है नत हो बार-बार, यह हिन्दी का स्नेहोपहार, यह नहीं हार मेरी,

भास्वर। यह रत्नहार-लोकोत्तर वर!' तो देश के 'कोर कल्चर' के अग्रणी हिन्दी-सेवी बिहार को भी यह पिछड़ापन, शायद, हिन्दी सेवा के कारण ही उपहार-स्वरूप प्राप्त हुआ है। अन्य हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी जहाँ सन् 1950 ईस्वी में राजभाषा बनी और सन् 1949 ईस्वी में संघ भाषा बनी, वहाँ बिहार में हिन्दी, देवनागरी लिपि के साथ, सन् 1881 ईस्वी में ही बिहार की आधिकारिक भाषा बन गई और उत्तर पश्चिम प्रान्त (North Western Provinces) के तत्कालीन गवर्नर सर एन्थोनी मैकडोनेल (Sir Anthony Macdonell) ने तो सन् 1898 ई. में ही हिन्दी को बिहार के अवर न्यायालय (Lower Court) की आधिकारिक भाषा घोषित कर दी। आधिकारिक या शासनिक भाषा के रूप में हिन्दी के विकास में बिहार के योगदान पर जो जिज्ञासु प्रामाणिक जानकारी चाहते हैं, उन्हें 'The Fort William House Correspondence' तथा तत्कालीन अंग्रेज पदाधिकारियों तथा गिलक्राइस्ट, विलियम कैरे (Carey), लार्ड मिन्टो, एफ.एस. ग्राउज, ए. डब्ल्यू क्रोफ्ट (Corft) इत्यादि के भाषा-सम्बन्धी वक्तव्यों को पढ़ना चाहिए। दूसरी बात यह है कि इन दिनों बिहार की कोई हिन्दी लॉबी दिल्ली में नहीं है, जिसका खामियाजा बिहार को भुगतना पड़ता है।

2. संवृद्धि (Growth) को गरीबों का पक्षधर (Pro-poor) होना चाहिए, तभी वह गैर-बराबरी को घटाने या दूर करने में सहायक होती है। संवृद्धि और विकास पर अधोमुखी टपकन-सिद्धान्त (Trickle down theory) का लागू होना आवश्यक है। तभी वह संवृद्धि 'growth with equity' बन सकेगी अन्यथा वह 'Pro-rich variety growth' बन जाएगी।
3. बिहार राज्य की आबादी और आय के पारस्परिक अनुपात का अध्ययन-विश्लेषण 'लॉरेन्ज कर्व' (Lorenz Curve) के अनुसार भी किया जा सकता है। Lorenz Curve के उपयोग के लिए द्रष्टव्य : 'Poverty, Inequality and Growth in the Era of Globalization by Surjit S. Bhalla, Penguin Books, India, New Delhi 2002, Pages 133-134; 211-216.'
4. 'We are Beharee (Bihari) first and Indian afterwards.'
5. इस सन्दर्भ में पठनीय है श्री एल.पी. सिंह का 'What Ails Bihar?' शीर्षक लेख : Vide : 'Points of View : Essays in Memory of Ranchor Prasad' Patna 2000, Pages 451-457.
6. सन् 1913 ई. में मुंगेर में आयोजित 'बिहारी स्टूडेन्ट्स कान्फरेन्स' के आठवें अधिवेशन में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा सभापति के पद से दिया गया अभिभाषण। द्रष्टव्य : Presidential Addresses delivered at the Biharee Students Conference (1906-1923), Compiled by Badri Narayan Sinha, 1931, Page 85.
7. Understanding Bihar, A.K. Biswas, Blumoon Books, New Delhi, 1998,

8. द्रष्टव्य : Bihar the Heart of India by Sir John Houlton, Orient longman Ltd., Calcutta, 1949.
9. 'Hyper-parochial credo' सरकारिया कमीशन के प्रतिवेदन में प्रयुक्त शब्दावली।
10. यह द्रविड़ विश्वविद्यालय, जिसमें तमिलनाडु, केरल, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक की भाषा-संस्कृति के अध्ययन-अध्यापन और शोध को शैक्षणिक कार्यक्रम का आधार बनाया गया है, शायद, 'ब्लॉक रेजिनलिज्म' के सहारे, आनेवाले दशकों में, दक्षिणात्य अलगाववाद (सदर्न सेपरेटिज्म) या द्रविड़स्तान की मांग का प्रधान वैचारिक गढ़ बन सकता है।
11. उप-राष्ट्रीयता को श्री शैवाल गुप्त ने बिहार के विकास के लिए आवश्यक माना है। 'बिहार : पहचान और विकास', शीर्षक अपने शोध-पत्र में उन्होंने बिहारी उप-राष्ट्रीयता को विकसित करने के लिए अनेक तर्क दिए हैं। द्रष्टव्य : 'बिहार : पहचान और विकास', शैवाल गुप्त, आद्री, पटना, 26 अक्टूबर, 2002.
12. इस 'उप-राष्ट्रीयता' को सरकारिया कमीशन ने 'Subnationality' की संज्ञा दी है और इसे ही कभी Lord Balfour ने 'subordinate patriotism' कहा था। शायद, राष्ट्रीयता को 'Federal Patriotism' और उपराष्ट्रीयता को 'State Patriotism' कहना बेहतर होगा।
13. 'इंडिया इंडिपेन्डेंस ऐक्ट' के पारण के समय कभी विन्स्टन चर्चिल ने कहा था 'India is not a Nation, but a Notion.'

विसंरचना : पाठ और पाठक के बीच गतिशील सर्जनात्मक आलोचना

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'*

देरिदा विसंरचना (डी-कंस्ट्रक्शन) सिद्धान्त का जनक और प्रवर्तक हैं तथा इसके अनुप्रयोग का सफल निरूपक भी हैं। उसका डिफेरेंस एक ऐसा आच्छादक (Umbrella) पद है, जिसकी घटकीयता प्रतिभासम्पन्न पाठक के अर्थोन्मेष को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान करती है। डिफेरेंस रचना या पाठ पर ही चरितार्थ होता है। यह चरितार्थता उसे प्रतिभा या साहित्यविवेक-सम्पन्न पाठक प्रदान करता है। **इस तरह विसंरचना पाठ और पाठक के बीच की गतिकी के रूप में अपनी सक्रियता दिखाती है।**

देरिदा विसंरचना में निष्ठा और ईमानदारी से युक्त निर्वचनात्मक सिद्धान्त की बात करता है। उसके अनुसार पाठ की विसंरचनात्मक पाठ-प्रक्रिया को पाठीयता की सीमा में बने रहना चाहिए। वह अपने अण्डे पाठ के माँसल क्षेत्र में ही दें। **विसंरचनात्मक** आलोचना का लक्ष्य **विद्यमान अर्थ से भिन्न** अन्यता-परता के बिन्दु को 'लोकेट' करना है।

दृष्टान्त के बतौर यहाँ प्रेमचन्द की पूस की रात को देरिदा के डिफेरेंस के आधार पर **विसंरचित** किया जा रहा है। **साइमन क्रिश्ले** के अनुसार **विसंरचनात्मक पाठ-प्रक्रिया** इस पर निर्भर है कि कितनी विश्वसनीयता के साथ यह किसी पाठ के प्रभुत्वपरक निर्वचन की एक टिप्पणी के बतौर पुनःसर्जना करती है। **पूस की रात** अपनी सामान्य पाठ-प्रक्रिया में जो अर्थ देती है, **विसंरचना** के लिए वह अर्थ न तो उस पाठ का अभिप्रेत है और न ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि **विसंरचना** रचना या पाठ

* प्रो. पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' पी-एच.डी (हिन्दी), डि.लिट. (भाषिकी) स्नातकोत्तर डिप्लोमा : अनुवाद; पूर्व विजिटिंग प्रोफेसर (2005-2007) महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)।
'साईकृपा', 58 लाल एवेन्यू, डाकघर : रेयॉन ऐण्ड सिल्क मिल, अमृतसर-143005, पंजाब, फोन-0183-2258702, मो. 09780617981

में उपस्थित अर्थ या सामान्यतः ज्ञात अर्थ को स्वीकार नहीं करती है। वह उसमें अनुपस्थित अर्थ को तलाशती और उसे अन्वेषित करती है। इस रूप में वह रचना के अन्तर्गर्भी अर्थ या निहितार्थ की सर्जना करने के कारण सर्जनात्मक आलोचना बन जाती है।

पूस की रात कहानी का मुख्य पात्र हलकू है। वह बहुत छोटा किसान या खेतिहर होने के कारण सर्वहारा है। **पूस की रात** की प्राकृतिक ठण्ड प्राकृतिक ठण्ड न होकर हलकू के जीवन के अर्थाभाव की घनीभूत ठण्ड है। स्वतः **पूस की रात** और उसका अन्धकार विचारधारा के अज्ञान की रात और उसका अन्धकार है, विचारधारा के अभाव की प्रकाशहीनता है। खेतों में फसल चरने वाले जानवर, जो किसान-मजदूर के द्वारा पैदा की गई फसल को, उसके उत्पादन को अपना ग्रास बना लेते हैं, बुरुवा (परजीवी) पूँजीपति के लोग हैं। खाट के नीचे बैठा उसका संगी (कॉमरेड) जबरा कुत्ता मध्यवर्ग को द्योतित करता है, जिसने सर्वहारा (हलकू) की देखरेख का, उसकी सुरक्षात्मक जागरूकता का दायित्व ले रखा है। वह अपने को 'डी-क्लास' कर चुका है। पर विचारधारा की ऊष्मा और रोशनी नहीं दे पाया है। वह हलकू को जाग्रत करता, उसे सुरक्षात्मक प्रतिरोध के लिए उत्प्रेरित तक करता है। पर वह बिना विचारधारा का ज्ञान दिए कर्म सम्पन्न करता है—“हार में चारों तरफ दौड़-दौड़कर भूँकता रहा।” “जबरा अपना गला फाड़े डालता था।” पर उसके द्वारा उद्बोधित किए जाने के बावजूद हलकू अन्दर से नहीं जग पाता है। वह थोड़ा प्रयत्न करता तो दिखता है, उठकर दो-चार कदम चलता भी है, पर हारकर बैठ जाता है। इन सबके मूल में जो ठण्ड का अनुभव है वह प्राकृतिक ठण्ड का अनुभव नहीं है, अपितु विचारधारा के अज्ञान-तम में अर्थाभाव की ठण्ड का निष्क्रिय कर देनेवाला अहसास है। प्रतिकार और संघर्ष के लिए जो शक्ति चाहिए उसे एक ओर अर्थाभाव निचोड़कर पी चुका है, दूसरी ओर इस हेतु विचारधारा के ज्ञान का जो प्रकाश चाहिए, उसकी गर्माहट चाहिए, उसे वह अब तक नसीब नहीं हो पाई है।

जो मध्यवर्ग उसके साथ जुड़ा हुआ है और जिस पर वह विश्वास करता है वह उसे विचारधारा का ज्ञान-सम्बल नहीं दे पाया है, क्योंकि उसकी जातिगत समानता परजीवी पूँजीपति के साथ है, पर वह सर्वहारा का संगी बना है। महाजन तो किसान से अपना बकाया आमने-सामने वसूलता है, पर **परजीवी पूँजीपति** छिपकर भी घात करता है। वह उसके खेत की उपज को, उसके उत्पादन को पूरा ही हड़प जाता है। वह जानता है कि मालगुजारी या लगान देने का दबाव तो उस पर बना ही रहेगा। सबेरे जब उसकी पत्नी मुन्नी आती है, उसे जगाती है और परजीवियों के द्वारा खेत की फसल चरे जाने की स्थिति से उसे अवगत कराती है, तब वह ईमानदारी से रात में पहरेदारी नहीं निभा पाने का कारण अपना पेट-दर्द बताता है। वास्तव में यह पेट-दर्द भूख का दर्द है, जो किसी भी विचारधाराहीन, सुविधाजीवी किसान को संघर्ष

करने से रोकता है। मुन्नी कहती है, “अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।” यहाँ हलकू और मुन्नीदोनों किसानों जैसी आजीविका की स्थितिगत समझ से अवगत होकर किसानों से मजूरी की मानसिकता में स्थानान्तरित हो जाते हैं। पहले भी मुन्नी हलकू से कह चुकी है, “तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए” और फिर, “तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को मिलेगी। किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है।” खीझ में निकली ये उक्तियाँ यहाँ अपनी सार्थकता प्राप्त कर लेती हैं। खीझ-भरी चाह, विवशता में स्वरूपित हो उठी है। साल में दो फसलों की उपज पर निर्भर होने से बेहतर रोज की दिहाड़ी बन जाती है। किसानों में जमींदार रोटोंरात फसल कटवा लेता है। मजदूरी में तो ऐसी स्थिति नहीं होगी। वह रोज कमाएगा, रोज खाएगा। पर पहले मालगुजारी भरनी पड़ेगी। हलकू कहता है, “रात को ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।” यहाँ यह संकेतित है कि विचारधारा के अज्ञान की रात और अर्थाभाव की ठण्ड में निश्चिन्त होने (सोने) का नाटक तो नहीं करना पड़ेगा। मजदूर बनने की प्रक्रिया में विचारधारा की समझ भी मिलेगी (मजदूर यूनियन जो है) और अर्थाभाव की ठण्ड भी कमेगी। पेट भरा होगा, वुभुक्षा शान्त होगी। कहानी में तार-तार कम्बल **अनावृत्त अर्थ भाव** की स्थिति को संकेतित करता है। एक ओर चिलम पीना नशा के द्वारा अर्थाभाव की ठण्ड को भुलाने का प्रयास है; तो दूसरी ओर हलकू द्वारा बटोरे गए पत्तों को जलाना उसके द्वारा अपने चैतन्य को आलोकित करने का क्षणिक प्रयास भर है, जहाँ न तो उसकी चेतना आलोकित हो पाती है और न उसका ताप ही उसको मयस्सर हो पाता है और यह सब एक विफल प्रयास बनकर रह जाता है। विचारधारागत विश्व-दृष्टि के अभाव में ये सब निजी प्रयत्न की विफलता बनकर रहे जाते हैं।

इस तरह कहानी में जो प्रत्यक्षतः अनुपस्थित है वह विसंरचनात्मक (डी-कंस्ट्रक्टिव) अर्थ-चिह्नन (ट्रेसिंग) की प्रक्रिया से उद्घाटित होकर कहानी को साभिप्रायित कर जाता है। कहानी में प्रतीपता (Reversal) या हेर-फेर (Alterity) की स्थिति डिफेरेंस को जन्म देती है। स्मरणीय है कि हलकू नीलगायों द्वारा खेत के चरे जाते समय उन्हें खेत से भगाने के लिए उठ खड़ा होता है और दो-चार कदम चलता भी है। पर वह चल नहीं पाता और बैठ जाता है। यहाँ जो स्थिति की माँग है, हलकू का जो दायित्व और कर्तव्य है उस दिशा में उसका सक्रिय होकर भी पुनः निष्क्रिय हो जाना **प्रतीपता** या हेर-फेर की संघटनात्मकता है। ठण्ड कितनी भी क्यों न हो, नीलगायें भगाई जा सकती थीं। पर उसका बिलकुल निष्क्रिय होकर बैठ जाना ही यह ध्वनित कर जाता है कि कहानी का अर्थ यह नहीं है, उसकी **साभिप्रायता** कुछ और है। डिफेरेंस इस अर्थ को स्थगित करता है (डिफेरेंस का पोस्टपोनमेंट वाला अर्थ)। इससे अलग पृथक् अर्थ की तलाश करता है। (डिफेरेंस का भिन्नता पृथक्ता वाला अर्थ)। साथ ही उस अर्थ को कहानी के विकीर्णित बिन्दुओं पर साभिप्रायित करता है। (डिफेरेंस का

विकीर्णन वाला अर्थ)। इस क्रम में कहानी का तलस्पर्शी अर्थ प्रत्येक बिन्दु पर उद्घाटित हो पड़ता है। इस तरह अर्थ की यह अनुपस्थित साभिप्रायता देरिदा की उस स्थापना को सार्थक करने लगती है कि संकेतिक (Signifier) और संकेतित (Signified) का कोई स्थिर या कि निर्धारित सम्बन्ध नहीं होता है। जो संकेतित है वह पुनः संकेतक बन जाता है तथा किसी और अज्ञात और अदृष्ट को संकेतित करने लग जाता है। इसीलिए संकेतक का कोई अन्तिम अर्थ नहीं होता है और संकेतक-संकेतित तथा संकेतित-संकेतक के बीच यह अर्थ-क्रीड़ा चलती रहती है। इस कहानी में पूस की रात, अन्धकार, ठण्ड, नीलगाय, जबरा कुत्ता, हलकू, तार-तार कम्बल, चिलम पीना, पत्तों की जलाई गई आग, ठण्ड में उठकर, चलकर नीलगाय भगाने की असमर्थताये सब स्पष्ट संकेतित पुनः निहितार्थी संकेतक बन जाते हैं और अनुपस्थित गूढ़ार्थ से कहानी को साभिप्रायित करने लग जाते हैं। यहाँ यह पूरी साभिप्रायता कहानी के पाठ पर केन्द्रित और आधारित है। इसमें अर्थ का कोई मनमाना आरोप नहीं है। **विसंरचना** यहाँ साभिप्रायता को हाशिए से उठाती है, कहानी में नीलगाय का प्रकरण हाशिए पर है। यहीं इस कहानी के **अर्थ-गह्वर** (Semantic enclave) का प्रवेश-द्वार बनता है। एक-दूसरे **विसंरचनावादी** चिन्तक **पाल डी. मान ने विसंरचना** की अपनी सैद्धान्तिकी में **एलिगरी** (Allegory) की अवधारणा को महत्त्व दिया है। **पूस की रात** का उक्त निहितार्थ इस **एलिगरी** के तात्त्विक आधार पर भी उद्घाटित हो जाता है।

हिन्दी में एक-से-एक ख्याति-प्राप्त मार्क्सवादी आलोचक हैं। नामी-गरामी, शिविरबद्ध आलोचक। रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द और प्रेमचन्द युग पर क्रमशः दो पुस्तकें लिखी हैं। नामवर सिंह प्रेमचन्द्र पर, उनके कथा-साहित्य पर धुआँधार व्याख्यान देते रहते हैं। नन्दकिशोर नवल ने प्रेमचन्द का सौन्दर्यशास्त्र नामक पूरी पुस्तक ही लिख डाली है। नामी-गरामी और भी हैरमेश कुन्तल मेघ, शिवकुमार मिश्र, बच्चन सिंह, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, कुमार पारसेन्द्रनाथ सिंह, चन्द्रबली सिंह, खगेन्द्रनाथ ठाकुर, परमानन्द श्रीवास्तव, मैनेजर पाण्डेय, शम्भुनाथ आदि। पर पिछले पचहत्तर वर्षों में इनमें से किसी ने भी प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास या कहानी की साभिप्रायता को गोल्डमान, लूकाच, टेरी ईगलटन आदि द्वारा प्रस्तावित मॉडेल या अपनी प्रतिभा के आधार पर उद्घाटित करने का प्रयास तक नहीं किया। ये आलोचक **विसंरचनावादी आलोचना को रूपवादी** कहते हैं और इस **आलोचन-कर्म** को सम्पादित करनेवाले आलोचक को प्रतिक्रियावादी। ऐसे में मैं पहली बार पूरे हिन्दी संसार के सामने **पूस की रात** की इस साभिप्राय अर्थवत्ता को उद्घाटित-विवेचित कर रहा हूँ। यह है **विसंरचनात्मक आलोचना की सर्जना** और आलोचक का विशिष्ट सर्जन-कर्म। यही सर्जनात्मक आलोचना है। यदि विसंरचना (डी-कंस्ट्रक्शन) अर्थ-चिह्नन (ट्रेसिंग) की प्रक्रिया से किसी रचना को साभिप्रायित करने वाली **वामपंथी विचारधारा**

को उद्घाटित कर दिखा दे सकती है, तो इससे अधिक निस्संग और **वस्तुनिष्ठ आलोचना** भला और क्या हो सकती है?

देरिदा ने विसंरचनात्मक पाठ-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए *QUSIA AND GRAMME* में लिखा है "Two texts, two hands, two visions, two ways of listening (ecouts), Together at once and separately." एम-75 (एम.पी. 65)। यह मूलतः पाठ या रचना में निहित उसकी श्रवणशीलता के दोनों पाठों, दोनों पक्षों, दोनों सन्दृष्टियों और दोनों मार्गों की तत्काल एक साथ और पुनः अलग-अलग होने वाली सक्रियता है। यहाँ यह द्वैत एकात्म श्रवणशीलता की प्रच्छन्न अन्तर्गर्भिता को उपलब्ध करने की दृष्टि से ही है। कहना होगा कि ऊपर **पूस की रात** की जो साभिप्राय सर्जना की गई है, उस पर देरिदा का यह कथन पूरी तरह घटित होता है। **पूस की रात** पर **गुलजार** ने एक टी.वी. फिल्म बनाई है दूरदर्शन की ओर से। पर उसमें कहानी की साभिप्रायता को नहीं समझ पाने के कारण इसके मूल कथानक को ही डिस्टॉर्ट कर दिया गया है। कहानी में जहाँ नीलगाय फसल चर जाती है वहाँ इस फिल्म में खेत में आग लगा दी जाती है। हाशिए की इस घटना के महत्त्व को वे नहीं आँक सके हैं। साथ ही **मूल कहानी** का समय-विस्तार जहाँ एक रात का है वहाँ फिल्म में इसे दो रातों में विस्तारित कर दिया जाता है। यही नहीं, फिल्म में इस कहानी पर **कफन** कहानी के पात्रों का चारित्र्य भी आरोपित कर दिया जाता है। हलकू, घीसू और माधव की तरह खेत से सवेरे-सवेरे चोरी-छिपे आलू उखाड़कर ले आता है। यह उलट-पुलट और **विरूपण** (Destortion) जान-बूझकर अतिरिक्त मौलिकता की झोंक में किया गया है, क्योंकि गुलजार इस कहानी के मर्म में प्रवेश नहीं कर सके हैं, अन्यथा प्रेमचन्द से अधिक मौलिक बनने का ऐसा दुस्साहस वे कभी नहीं करते, जिससे इसका कथा-मर्म ही नष्ट हो जाए।

इधर 2009 में महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा से प्रकाशित होने वाली **बहुवचन** पत्रिका के प्रेमचन्द कहानी विशेषांक का सम्पादन इलाहाबाद के राजेन्द्र कुमार ने किया है। इसमें **पूस की रात** पर मार्क्सवादी धाकड़, वाग्मी वक्ता नामवर सिंह की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई है। यहाँ नामवर जी ने **पूस की रात** में व्याप्त ठण्ड को जर्मीदारी व्यवस्था की ठण्ड के रूप में देखा है, जबकि इसके विपरीत हलकू के जीवन में अर्थाभाव की ठण्ड जर्मीदारी व्यवस्था की ऊष्मा, उसकी गर्माहट का दुष्परिणाम है। **पूस की रात** में ही हलकू सोचता है, "और एक-एक भागवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा जाए तो गर्मी से घबड़ाकर भागे। मोटे-मोटे गद्दे, गिलाफ, कम्बल।" कहना न होगा कि वहाँ व्यवस्था की गर्माहट-ही-गर्माहट है, ठण्ड नहीं।

इसे पढ़कर ऐसा लगता है कि कुछ मौलिक कहने की झोंक में नामवर जी के साहित्य-विवेक का चिन्तन-चक्र जगह-जगह से पंक्चर हो चुका है। तभी वे हलकू के

अर्थाभाव की ठण्ड को जमींदारी व्यवस्था की ठण्ड तक ले आते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि एक अति सामान्य किसान के जीवन में अर्थाभाव की ठण्ड जमींदारी व्यवस्था की ऊष्मा और गर्माहट का ही दुष्परिणाम होती है। इन दोनों के बीच सम्बन्ध समानता का नहीं, बल्कि **प्रतीपता** का बनता है। रूढ़ (Orthodox) मार्क्सवाद का भी यही मान्यता है, जिससे वर्ग-संघर्ष जन्म लेता है।

इधर नन्दकिशोर नवल ने पाठक-केन्द्रित आलोचना शीर्षक एक आलेख लिखा है, जो आलोचना त्रैमासिक के जुलाई-सितम्बर, 2009 अंक में (पृष्ठ 101-104) प्रकाशित है। इसमें उन्होंने पाठक-केन्द्रित आलोचना और डी-कंस्ट्रक्शन (विसंरचना) के बीच अन्तर स्पष्ट किया है। इस क्रम में नवल ने विसंरचना पर आरोप-पर-आरोप किए हैं, जिससे उनकी पूर्वाग्रहग्रस्तता और विसंरचना के प्रति उनके घोर अज्ञान का पता चलता है। नवल ने पाठक-केन्द्रित आलोचना के मूल में चार विद्वानों के नाम लिए हैं। वूल्फगैंग ईजर, 2. हॉस रॉबर्ट याउस, 3. नार्मन हालैण्ड और 4. स्टेनली फिश।

ये चारो क्रमशः परिघटनावादी, अभिग्रहण-सिद्धान्तवादी, मनोविश्लेषणवादी और शैली-वैज्ञानिक हैं। ये चारो अलग-अलग सिद्धान्त हैं, और नवल को इनका परिज्ञान या सम्यक् ज्ञान नहीं है। यह सच है कि इन चारों ने पाठक को महत्त्व दिया है। पर यह महत्त्व अपने-अपने सिद्धान्त के अन्तर्गत ही दिया गया है, मुक्त पाठकीयता की ये बात नहीं करते। इनके पाठक प्रशिक्षित या कि परिपक्व पाठक हैं। नवल आज जिस **स्टेनली फिश** की बात कर रहे हैं उसका विवेचन और निरूपण मैंने आज से तैंतीस वर्ष पूर्व 1977 में अपनी पुस्तक **शैलीविज्ञान : प्रकार और प्रतिमान** (चण्डीगढ़, पंचकूला : हरियाणा साहित्य अकादमी) में कर दिया था और शैली-वैज्ञानिक आलोचना की व्यापकता को पाठ से पाठक-केन्द्रित आलोचना तक दिखाया था। आज पुनः मुझे **विसंरचना** के सन्दर्भ में यही दायित्व निभाना पड़ रहा है। नवल जी को यह ज्ञान नहीं है कि शैली-विज्ञान में फिश पाठक-केन्द्रित आलोचना के अकेले पैरवीकार नहीं हैं, बल्कि **स्टीफेन बूथ** भी पाठक-केन्द्रित आलोचना को मानते हैं। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक *An Essay on Shakespeare's Sonnets* (न्यूहेवेन : येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1969) महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ विस्तारपूर्वक यह प्रश्न उठाया गया था कि आखिर रचना का पाठक कौन है और उसकी योग्यता क्या है? कदाचित पहली बार यहीं पाठक को रचयिता या सर्जक माना गया था, जो एक प्रादर्श पाठक है। **फिश वार्डहफ के परिपक्व** पाठक को जानकार पाठक कहता है। यह पाठक एक ओर आनुभविक पाठक है, तो दूसरी ओर योग्य पाठक भी है। नवल जी को यह पता नहीं है स्टीफेन बूथ बर्कले में फिश का सहयोगी रहा है। इसने आलोचना को विम्सेट और वर्डस्ले के सैद्धान्तिक बन्धन से मुक्त कर तरोताजगी और नवीनता प्रदान की थी।

बहरहाल नवल जी को यह भी पता नहीं है कि जिस **परिघटनावादी आलोचना** को वह पाठकवादी कहते हैं, विसंरचनावाद भी उसी के अन्यतम विकास-क्रम में उभरा है। **हर्शल से हाइडेगर और फिर देरिदा**। इसकी मौलिकता है केन्द्र का खण्डन और हाशिया या परिपार्श्व का महत्त्वांकन! उनका आरोप है कि “विखण्डनवाद (डी-कंस्ट्रक्शन) अर्थ को जहाँ नितान्त स्वतन्त्र और निरन्तर विखण्डनशील मानता है वहाँ पाठक-केन्द्रित आलोचना उसे रचना से कभी स्वतन्त्र नहीं मानती और सिर्फ उसके गतिशील होने पर जोर देती है।” (वही, पृ. 101-105) पर उनका यह वाक्य अपने-आप में वाग्छल का प्रमाण है। सच्चाई तो यह है कि विसंरचना अर्थ को कभी पाठ या रचना से स्वतन्त्र नहीं मानता। यह पाठ और पाठक दोनों को मान्यता देने वाली आलोचना है। पाठक-केन्द्रित आलोचना यदि अर्थ को गतिशील मानती है, तो विसंरचना उसकी **गतिकी** का शास्त्र और अनुप्रयोग दोनों है।

नवल का कहना है कि **देरिदा** जैसे विखंडनवादियों ने यत्र-तत्र रचना की पाठ-प्रक्रिया का भी जिक्क किया है। पर मेरा प्रतीति है कि उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि **देरिदा** ही विसंरचना का जनक और प्रवर्तक है। उसने उस सिद्धान्त की स्थापना और व्याख्या में पच्चीसों पुस्तकें लिखी हैं और पचासों पारिभाषिक दिए हैं, जो वाचन-प्रक्रिया के कौशलों को ही निर्दिष्ट करने वाले हैं। यह शब्द उसी का गढ़ा हुआ है। उसके पूर्व इस रूप में इस शब्द का कभी किसी ने व्यवहार नहीं किया। ऐसे में अपने उक्त बयान में ‘भी’ लगाने से **नवल** का आशय आखिर क्या है? **देरिदा** का सारा सिद्धान्त पाठ और पाठक की **गतिकी** पर खड़ा है। ऐसे में यत्र-तत्र का प्रयोग कर, स्वीपिंग टिप्पणी देकर वे पाठकों को क्या उद्भ्रान्त और दिग्भ्रान्त कर रहे हैं? देरिदा ने पाठ-विरहित अर्थ की कहीं कोई बात नहीं की है। उसका सिद्धान्त मूलतः पाठ-आधारित है जिसका विस्तार वह अन्तर-पाठ तक करता है। उसकी स्पष्ट मान्यता है कि “Deconstruction is always engaged in reading a text”। **यही नहीं, मिलर, मान और ब्लूम** भी सदैव पाठ की बात करते हैं। **रोलाँ बार्थ**, जो अपने उत्तरकालीन जीवन और चिन्तन में डीकंस्ट्रक्शनिस्ट बना, वह भी पाठ की बात करता है। फिर **नवल** उस विसंरचनावादी (डी-कंस्ट्रक्शनिस्ट) का, जिसे वे **विखंडनवादी** कहते हैं, नाम क्यों नहीं लेते हैं, जो अर्थ को पाठ या रचना से स्वतंत्र मानता है? इस तथ्य को **नवल** नहीं समझ सके हैं कि डी-कंस्ट्रक्शनिस्ट के लिए प्रच्छन्न और निहित या अन्तर्गर्भी अर्थ सदैव रचना में ही निहित होता है। कोई भी **विसंरचनावादी आलोचक** अपने मन के मुताबिक रचना पर कभी कोई अर्थ नहीं थोपता, बल्कि वह पाठ और अन्तर-पाठ के आधार पर ही रचना में निहित अर्थ की विच्छिन्ति और साभिप्रायता को उजागर करता है।

नवल जी को निश्चय ही यह पता नहीं है कि **स्टेनली फिश** और **स्टीफेन बूथ** को छोड़कर सारा शैली-विज्ञान पाठ-केन्द्रित आलोचना प्रणाली है। फिश और बूथ ही उसे पाठक-केन्द्रित आलोचना के रूप में विकसित करते हैं। ऐसे में यदि पाठक-केन्द्रित

आलोचना के चौथे स्तम्भ के रूप में **फिश** का नाम लिया जा सकता है तो पाँचवें स्तम्भ के रूप में भला **देरिदा** का नाम क्यों नहीं लिया जा सकता है, जबकि **देरिदा** पाठ के वाचन और पाठक की प्रतिभा को ठीक उसी तरह महत्त्व देता है जिस तरह भारतीय काव्यशास्त्र में सहृदय या भावक को महत्त्व दिया गया है“ Derrida's thinking is always thinking about a text from which flows the obvious corollary that deconstruction is always enegaged in reading a text.” **नवल जी** ने यहाँ आलोचनात्मक बेईमानी की है।

नवल जी का यह भी कहना है कि डी-कंस्ट्रक्शन के सिद्धान्तविदों के लिए “रचना एक कच्चा माल है, जिसमें हम अपने मन के मुताबिक जो अर्थ चाहें ले सकते हैं।” (पूर्ववत्, पृष्ठ-105) इससे यह पता चलता है कि न केवल विसंरचना के सन्दर्भ में, बल्कि साहित्य-सिद्धान्त और काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में उनके पास **पल्लवग्राही** ज्ञान भी नहीं है, जिससे उन्हें मुझे यह कहने की अपेक्षा होती कि “मनन कर मनन शकुनि नादान/न पिक-प्रतिभा पर कर अभिमान।” रचना तो हिन्दी के मार्क्सवादियों के लिए **कच्चा माल** है, क्योंकि वे दस्तावेज (डाक्युमेंट) को ही मानते हैं, यथार्थ संख्या-एक को ही मानते हैं, स्मारक (मोनूमेंट) को महत्त्व नहीं देते, यथार्थ संख्या-दो की सार्थकता नहीं समझते, क्योंकि वह रूपान्तरित यथार्थ होता है। पर कच्चा माल अपने-आप में एक रूपक या मेटाफर भी है। भारतीय शब्दशक्ति की मान्यता में क्या **अभिधा कच्चे माल** की तरह नहीं है? जब **लक्ष्यार्थ**, **व्यंग्यार्थ** और **तात्पर्यार्थ** होता है तब अभिधा कच्चे माल के सिवाय क्या रह जाती है? भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकार-विवेचन में रूपकातिशयोक्ति अलंकार में उपमेय निगरित उपमान की भला क्या स्थिति है? क्या वह कच्चा माल नहीं है? सूरदास के प्रसिद्ध पद ‘**अद्भुत एक अनूपम बाग/जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त/ता पर सिंह करत अनुराग**’ में ‘**बाग**’ का अर्थ **राधा का शरीर** कैसे हो गया? फिर जब **राधा का शरीर** ही ग्राह्य अर्थ हो गया, तब बाग कच्चा माल बनकर रह गया या नहीं? **आनन्दवर्धन** का ध्वनि-सिद्धान्त तो **नवल जी** को स्मरण रहना चाहिए था। यही नहीं, यदि **नवल जी** सारे पश्चिमी पाठ-केन्द्रित और पाठक-केन्द्रित आलोचना-प्रकारों में किए गए अर्थ-विमर्श को देखें, तो वहाँ भी उन्हें रचना का प्राथमिक अर्थ **कच्चे माल** के रूप में ही मिलेगा, जिससे उसका **द्वितीयक** या **प्रतीयमान** अर्थ विकसित हुआ होगा।

नवल जी यह भूल जाते हैं कि विसंरचना अमेरिकी **रॉरशस स्कूल** की प्रतिक्रियावादी आलोचना नहीं है, जिसमें पाठक रचना से मनमाना अर्थ ग्रहण किया करता है। इसमें पाठक विसंरचना का भाषिक युक्तियों के आधार पर रचना का अर्थ-ग्रहण करता है, विद्यमान और प्रकट अर्थ के अतिरिक्त **अर्थ-चिह्नन** (tracing) की प्रक्रिया से **अविद्यमान, प्रच्छन्न अर्थ को अन्वेषित करता है**। इस सन्दर्भ में **देरिदा** की दो स्थापनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। 1. पाठ के बाहर कोई पाठ नहीं है।

(There is no outside text). 2. उसकी दूसरी स्थापना है कि पाठ के बाहर कुछ भी नहीं है। (There is nothing outside the text.) पूस की रात में फसल के चरे जाते समय हलकू को अपनी जगह से हिलना जहर लग रहा था। कहानीकार ने लिखा है“वह अपनी जगह से न हिला। उसने जोर से आवाज लगाई **हिलो-हिलो!** **हिलो!** यद्यपि यह जानवर को भगाने की आवाज है, पर हलकू के लिए यह **आत्मसम्बोधन** भी है। यहाँ **हिलना** इसलिए सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि उसके पीछे ज्ञान की, विचारधारा की प्रेरक-शक्ति नहीं है। इसलिए ‘हिलना’ कर्म में आचरित नहीं होकर वाणी-मात्र में मुखर होकर रह जाता है। यहाँ कहानी के पाठ में हिलने की आवृत्ति, पुनः उसकी निषेधात्मकता और आग्रहपरकता कहानी को साभिप्रायित करती है। अतः इसके लिए यहाँ अधिक प्रमाण देने की मुझे आवश्यकता नहीं है। मैंने अपनी पुस्तक **डीकंस्ट्रक्शन बनाम विसंरचना : देरिदा तथा अन्य चिन्तक** (जयपुर/नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2009) में इन बिन्दुओं पर भी विस्तृत विवेचन कर दिया है। यही नहीं, प्रस्तुत आलेख में **पूस की रात** की विसंरचनात्मक साभिप्रायता पर प्रकाश डालने के बाद भी मैंने देरिदा का कथन उद्धृत किया है, जो इस बात का प्रमाण है कि **डीकंस्ट्रक्शन** में अर्थ पाठ से विच्छिन्न नहीं होता और न ही उसमें मनमाना अर्थ आरोपित किया जाता है। लगे हाथ चाहें, तो देरिदा का एक और उद्धरण देख लें। यह वह उद्धरण है जिसे **पीटर वी. जिमा** ने अपनी पुस्तक **डीकंस्ट्रक्शन एण्ड क्रिटिकल थिअरी** के दूसरे अध्याय में उद्धृत किया है, “Differance is responsible for the fact that the shift of signification is only possible when each of the so called 'present' elements that appears in the shpere of the 'present' reflects to something other than itself thereby retain the mark (marque) of the preceding element and always permits itself to be shaped by its relation to subsequent element.” देरिदा का कहना है कि डिफेरेंस या भिन्नता इस तथ्य के लिए उत्तरदायी है कि अर्थ में परिवर्तन/अन्तरण तभी सम्भव है जब प्रत्येक तथाकथित विद्यमान अर्थ, जो (पाठ के) विद्यमान क्षेत्र में उभरता है, वह अपने अतिरिक्त किसी दूसरे को निर्दिष्ट करता है। इसके द्वारा वह (एक ओर) पूर्ववर्ती संकेत को बनाए रखता है और पहले से ही परवर्ती अर्थ के प्रति इसकी नातेदारी के जरिए संघटित-व्यवस्थित होने का अवसर प्रदान करता है। कहना न होगा कि यहाँ सारी प्रक्रिया रचना के पाठ पर ही आधारित है और इसमें मनमाना अर्थ आरोपित करने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है।

हाँ, **पाठक-केन्द्रित** आलोचना के रूप में विसंरचना यह मानती है कि रचना का कोई स्थिर अर्थ नहीं होता है। यह भी कि उसका कोई अन्तिम अर्थ भी नहीं होता है। इसलिए उसका कोई निर्धारित और निर्णीत अर्थ नहीं होता है। प्रत्येक रचना का जो स्पष्ट अभिधेयार्थ होता है, जो प्रकट विद्यमान अर्थ होता है, उसे विसंरचना महत्त्व नहीं

देता है। यह सदैव प्रच्छन्न अर्थ, निहितार्थ को अन्वेषित करता है। इसका एक पारिभाषिक एक्रीचर (Ecriture) है। इसके द्वारा यह स्पष्ट करता है कि प्रकट अर्थ है भी और नहीं भी है। इसलिए यह प्रकट पर काँटे (x) का निशान लगा देता है और निहितार्थ की तलाश करने लगता है। इस प्रक्रिया को वह **अर्थ-चिह्नन** (Tracing) की प्रक्रिया कहता है। इस प्रक्रिया में भिन्नता (डिफरेंस), **प्रतीपता** और **आवृत्ति** की अवधारणा और युक्तियाँ सक्रिय रहती हैं।

जहाँ तक रचना के ज्ञात अर्थ को अन्तिम अर्थ नहीं मानने की बात है, इसकी घोषणा आज से चालीस वर्ष पूर्व शैली-विज्ञान भी कर चुका था। वह भी अपने किसी **साभिप्राय विश्लेषण** को अन्तिम नहीं मानता है। **विखण्डनवाद** भी अर्थ को निरन्तर अन्वेष्य, अनुसंधेय और सर्जनीय मानता है, पर उसे **नितान्त या परम स्वतन्त्र** कभी नहीं मानता। हाँ, पाठक-केन्द्रित आलोचना के अन्य पैरवीकारों की तरह वह **वाचन** को कभी पूर्ण नहीं मानता है। **डीकंस्ट्रक्शन** ने गलत पाठन या **‘मिसरीडिंग’** की अवधारणा दी है। उसके अनुसार प्रत्येक वाचन या प्रत्येक पाठ-प्रक्रिया अपने-आप में अपूर्ण वाचन की ही प्रक्रिया है। ‘तिष्ठद्दशांगुलम्’। इसे ही वह **मिसरीडिंग** कहता है। हर वाचन में कुछ-न-कुछ छूट जाता है, पकड़ में आने से रह जाता है। **मिसरीडिंग** यानी अपूर्ण वाचन। यह विसंरचना की मौलिक अवधारणा है।

नवल का आरोप यह भी है कि **डीकंस्ट्रक्शन** में एक अर्थ दूसरे असंख्य अर्थों का संकेतक होता है। नवल इस सूत्र को समझ नहीं पाए हैं। इसके लिए पहले सँस्यूर की उस स्थापना को जानने की जरूरत है जिसमें **सँस्यूर संकेतक** (Signifier) और **संकेतित** (Signified) के सम्बन्ध को निश्चित मान लेता है। सामान्यतः यह सही लग सकता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो जीवन में भाषिक सम्प्रेषण की सम्भावना ही नष्ट हो जाए। पर अमेरिकी **संकेतविज्ञानी** (Semiotician) **पर्स** (Pierce) **सँस्यूर** से आगे जाकर यह स्थापना करता है कि संकेतक का संकेतित पुनः संकेतक बन जाता है और अन्य संकेतितों को निर्दिष्ट करने लगता है। संकेतक-संकेतित के संसार में यह अनन्त क्रम चलता रहता है। इसे उसके **निर्वचक** (Interpretant) सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। अभिप्राय यह है कि एक शब्द का जो अर्थ होता है वह अर्थ रहकर पुनः शब्द बन जाता है और किसी अन्याय को संकेतित करने लगता है। भर्तृहरि ने **वाक्यपदीय** में भी शब्दार्थ की प्रकृति के सन्दर्भ में ऐसी स्थापना की है और शब्द का स्थिर तथा अन्तिम निर्धारित अर्थ मानने से इनकार कर दिया है। इस पृष्ठभूमि में **नवल जी** को यह समझने की जरूरत है कि यह स्थापना मूलतः **भर्तृहरि** और **पर्स** की है। सर्जनात्मक साहित्य में संकेतक का जो संकेतित है वह पुनः संकेतक बनता ही है और अन्य संकेतितों को दर्शाने लग जाता है। विसंरचना में ऐसा नहीं होता, बल्कि विसंरचना इस स्थिति को उद्घाटित करता हुआ इसे ‘अर्थक्रीड़ा’ भी कहता है। आज **संज्ञानात्मक अर्थविज्ञान** (Cognitive Semantics) भी इसे मानता

है। जब **राम की शक्तिपूजा** में राम का अर्थ **पौराणिक राम** में सीमित नहीं रहकर कवि निराला और गाँधी को संकेतित करने लगता है तथा सीता-राम की अर्धांगिनी और धर्मपत्नी में सीमित न रहकर कविता और भारत माता को संकेतित करने लगती है और शक्ति पौराणिक देवी नहीं रहकर कुंडलिनी शक्ति, प्रतिभा शक्ति और नैतिक शक्ति/आत्म-शक्ति को संकेतित करने लगती है तब संकेतक से निर्दिष्ट संकेतित पुनः संकेतक बनकर अन्य संकेतितों को निर्दिष्ट करता है या नहीं? राम का अर्थ रमण करने वाला है। बलराम, परशुराम और पुरुषोत्तम राम है। सन्दर्भतः दशरथ-पुत्र पुरुषोत्तम राम वहाँ इसका चयनित संकेतित है। पुनः इस संकेतित के संकेतक बनने से कवि निराला और गाँधी जैसे संकेतित उभरते हैं या नहीं? ऐसा ही सीता और शक्ति जैसे संकेतक के संकेतित के साथ भी है। पर राम की शक्तिपूजा के कच्चे माल को ही पक्के माल के रूप में देखने वाला आलोचक, उसकी साभिप्रायता को पत्नी-प्रेम की कविता के रूप में सीमित करने वाला आलोचक भला इसे क्यों मानने लगा? इसीलिए आज तक किसी भी मार्क्सवादी आलोचक से हिन्दी साहित्य किसी भी महान् कृति में अन्तःप्रवेश सम्भव नहीं हो सका और न उसके द्वारा किसी भी महान् कृति की तलस्पर्शी साभिप्रायता ही उजागर की जा सकी। उसके लिए **अभिधेयार्थ** ही निर्धारित अर्थ है और वही उसका एकमात्र अन्तिम अर्थ है। नवल कहते हैं कि **डीकंस्ट्रक्शन** अर्थ को निरन्तर **‘विखंडनशील’** (Deconstructive) मानता है। यहाँ डीकंस्ट्रक्शन का विखंडनशील अनुवाद ही निषेधात्मक है, जो गलत है। अपने जापानी मित्र को दिए गए पत्रोत्तर में **देरिदा** ने इसका अनुवाद करते समय इस निषेधात्मकता से बचने की बात की थी। इसके लिए हिन्दी में सही शब्द **विसंरचनात्मक** है। विसंरचना प्रक्रिया है, जिसका परिणाम **सर्जना** है। इस दृष्टि से उनके आरोप को संशोधित कर दें, तो यह कुछ इस प्रकार होगा **‘डीकंस्ट्रक्शन** अर्थ को निरन्तर सर्जनशील मानता है। वस्तुतः कोई भी पाठ-केन्द्रित या पाठक-केन्द्रित आलोचना अर्थ को निरन्तर सर्जनशील मानती है। इस सर्जना से ही अर्थ विकसित होता है विसंरचना मानती है कि रचना में इसकी सम्भावना निरन्तर विद्यमान रहती है। सर्जनशील और गतिशील में अन्तर नहीं है। हाँ, **सर्जनशील** और **(प्र) गतिशील** में अन्तर अवश्य है। इस तरह **नवल** अपने इस मिथ्या आरोप में भी वाग़ल करते दिखते हैं। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठ सकता है कि क्या डीकंस्ट्रक्शन से पहले की पाठक-केन्द्रित आलोचना और डीकंस्ट्रक्शनिस्ट पाठक-केन्द्रित आलोचना में कोई अन्तर नहीं है? उत्तर है कि जहाँ पहले की पाठक-केन्द्रित आलोचना अर्थ-सर्जना करने पर रचना के अर्थ को निर्धारित-निर्णीत कर देती थी, वहाँ विसंरचनावादी (डीकंस्ट्रक्शनिस्ट) पाठक-केन्द्रित आलोचना इसे अनन्तिम मानती है। तथा सम्भाव्य अर्थ-सर्जना के लिए अवकाश बनाए रखती है।

नवल का यह भी आरोप है कि **डीकंस्ट्रक्शन** में रचना अपने-आपको विखंडित करती रहती है। (वही, पृष्ठ-105) पर नवल जी **विसंरचना** की इस मान्यता को भी समझ नहीं पाए हैं। **देरिदा** के अनुसार जहाँ भी कुछ **कंस्ट्रक्शन** रचनागत है वहाँ **डीकंस्ट्रक्शन** है और जहाँ भी ऐसा कुछ है वह स्वतः अपने को **डीकंस्ट्रक्ट** कर देता है। **मिलर** ने भी यह कहा है कि रचना स्वयं अपने को **विसंरचित** कर देती है। इस दृष्टि से पाठ स्वतः अपने-आप में **विसंरचित** होता है। पाठक को केवल उन बिन्दुओं को देखने की अपेक्षा होती है जहाँ उसके विसंरचित सूत्र विद्यमान होते हैं। बहुत पहले हिन्दी में यही बात दूसरे ढंग से कही गई थी कि **मुक्तिबोध** अपनी कविताओं में ही अपनी प्रतीक-योजना और फंतासी के गठन को खोलने का सूत्र छोड़ जाते हैं। यही एक प्रकार से रचना की **विसंरचना** या उसका **डीकंस्ट्रक्शन** है, जो **मुक्तिबोध** की कविताओं में स्वतः विद्यमान है। हम चाहें तो कह सकते हैं कि मुक्तिबोध की कविता स्वतः अपने-आपको **डीकंस्ट्रक्ट** करती है। पर आश्चर्य की बात है कि मुक्तिबोध पर चार सौ नब्बे पृष्ठों से अधिक बृहदाकारी पोथा लिखने वाले **नवल मुक्तिबोध** की कविताओं के द्वारा किए जाने वाले इस विसंरचना के बिन्दुओं को नहीं देख पाते हैं। फलतः उसकी समझ से वंचित रहकर कई स्थलों पर उस पर मनमाना अर्थ आरोपित कर देते हैं, जो स्पष्टतः गलत वाचन को जन्म देता है। रचना अपने-आपको विसंरचित कर देती है। **विसंरचना** की यह मान्यता उसकी कोई बहुत मौलिक स्थापना नहीं है। इसका मूल उत्स ऋग्वेद के उस सूक्त में प्राप्त होता है, जिसमें यह कहा गया है कि यह वाणी ही है जो जब किसी पाठक पर रीझ जाती है तब उसके सामने अपने-आपको स्वतः उद्घाटित कर देती है। रचना द्वारा अपने-आपको विसंरचित करने का कदाचित् यह सबसे पहला कथन है। दृष्टान्त-स्वरूप हिन्दी में **निराला** की **जुही की कली** अपने-आपको स्वतः विसंरचित करती है। हिन्दी के लाखों पाठकों ने उसे पढ़ा है। पर **कुबेरनाथ राय** जैसे पाठक ने उसके द्वारा स्वतः **विसंरचित** स्थलों की मार्मिक पहचान की है। तभी उन सूत्रों के आलोक में वे कहते हैं कि यहाँ पवन कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि यह अज्ञातयौवना युवती के ज्ञातयौवना होने पर जैव-रासायनिक परिवर्तनवश उसके भीतर प्रवाहित होने वाला उद्दाम काम-पवन है। इसलिए यह वेदान्ती कविता न होकर शुद्ध वैष्णवी कविता है। आत्मा-परमात्मा के विरह-मिलन की कविता न होकर काम के **आन्तरिक जैव (Organic)** उद्वेलन की कविता है। कोई चाहे तो इस सर्जनात्मक स्थापना से पूरी तरह परिचित होने के लिए **कुबेरनाथ राय** की **किरात नदी में चन्द्रमधु** पुस्तक में प्रकारान्तरित इस **विसंरचना** को विस्तार से देख सकता है। ऐसे में नवल का यह आरोप स्वतः उनके साहित्य-विवेक और आलोचना के क्षेत्र में उनकी अर्जित दीक्षा पर ही प्रश्नचिह्न खड़ा कर देता है। जैसा साहित्य का कोई पाठक **‘चांदनी बरसती है’** जैसी उक्ति को लेकर उसके प्रस्तोता, रचयिता या वक्ता पर उसकी तथ्यता के विषय में बचकाना आरोप करें, **नवल** के द्वारा किया गया रचना अपने-आपको

विसंरचना करती है जैसा आरोप भी ठीक वैसा ही है।

नवल का आरोप यह भी है कि तथाकथित **विखण्डनवाद** (डीकंस्ट्रक्शन) यानी **विसंरचनावाद नकारवाद एवं अराजकतावाद** का प्रतिनिधित्व करता है तथा उसके विभिन्न अर्थ एक-दूसरे के विरोधी भी हो सकते हैं। (वही, पृष्ठ 105)। जहाँ तक इस पर नकारवादी या अराजकतावादी होने का आरोप है, वह सरासर गलत है। ऐसा भड़काऊ आरोप मार्क्सवादी अक्सर करते रहे हैं। **देरिदा** ने अपने जापानी मित्र को दिए प्रत्युत्तर में सबसे पहले यही कहा है कि **डीकंस्ट्रक्शन नकारात्मक** या नकारवादी नहीं है। यह विनाश की प्रक्रिया नहीं है। यह अराजकतावादी भी नहीं है। यह पाठ और पाठक-केन्द्रित एक व्यवस्थित ज्ञानानुशासन है। उसका मानना है कि कोई भी चिन्तन जो प्राथमिक रूप में वाचन से सरोकार रखता है, वह साफतौर पर उस पाठ या रचना पर निर्भर है, जो पढ़ा जा रहा है: “Any thinking that is primarily concerned with reading will clearly be dependent upon that text that is being read.” विसंरचना में **देरिदा** के अनुसार कोई भी वाचन आत्मीजीवी नहीं, वह **स्वैच्छिक** नहीं है। अतः उसके अराजकतावादी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ हर वाचन पाठ-निर्भर होने के कारण परजीवी है, क्योंकि यह पाठों (Texts) का निकट अध्ययन है, जो ग्रहण किए जा रहे अर्थ की पुष्टि रचना-रूपी मेजबान की काया की सीमा में ही करता है “Thus Derrida's readings are parasites because they are clear reading of the texts that draw their sustenance from within the flesh of host.” अतः ऐसे आलोचना-सिद्धान्त और दर्शन को **अराजकतावादी** कहना आरोपकर्ता के अपने-आप में अराजक और **अराजकतावादी** प्रवृत्ति के होने को प्रमाणित करता है।

जहाँ तक विसंरचना की उस मान्यता का प्रश्न है कि रचना के विभिन्न अर्थ परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं, इसे काव्य-विवेक सम्पन्न कोई भी पाठक स्वीकार कर लेगा। विसंरचना से पहले आज से चालीस वर्ष पूर्व ठीक यही घोषणा **गिल्बर्ट हाइएट** ने अपनी पुस्तक *The powers of Poetry* में कर दी थी। कीट्स ने तो कविता से अनेक अर्थ-किरणों के निकलने की स्थिति में उसके किसी एक अर्थ पर अड़नेवाले पाठक को मूर्ख तक कह दिया है। ऐसे में **नवल जी** अपनी स्थिति का स्वयं अनुमान कर सकते हैं। पाठकों के **ज्ञानवर्धन** की दृष्टि से यह बेहतर होगा कि लगे हाथ मैं काव्यार्थ की परस्पर विरोधिता का प्रमाण भी दे दूँ। ऊपर **जुही की कली** कविता के अनेकार्थों की बात की गई है। इस कविता का महावीर प्रसाद द्विवेदी के लिए घोर श्रृंगारिक अर्थ था, लौकिक श्रृंगारपरक अर्थ, पर स्वयं **निराला** ने आकाशवाणी से अपनी वार्ता प्रसारित करते हुए इसमें तमसो मा ज्योतिर्गमय की स्थिति स्पष्ट की। इसमें आत्मा और परमात्मा के विरह और मिलन की चरितार्थता दिखाई। कविता को पारलौकिक अर्थ दिया। उसकी वेदान्ती व्याख्या की। बाद में हिन्दी के ख्यातिलब्ध

निबन्धकार **कुबेरनाथ** राय ने ज्ञातयौवना युवती की काया में होने वाले जैव-रासायनिक परिवर्तनवश पवन को बाहर से आगत नहीं मानकर काया में ही उद्भूत **काम-पवन** के रूप में निरूपित-विवेचित किया तथा इस कविता को **शुद्ध काम की वैष्णवी कविता** कहा। अब भला लौकिक शृंगार और पारलौकिक या अलौकिक शृंगार में विरोध है या नहीं? पुनः लौकिक शृंगार को नकारनेवाली **वेदान्ती साभिप्रायता** (आत्मा-परमात्मा के मिलन की साभिप्रायता) और कायिक काम-पवन की उद्दामता से लौकिक मिलन की सार्थकता-दोनों में विरोध है या नहीं? पवन के बाहर से आने की स्थिति और युवती के शरीर में उसके अन्तःप्रवाहित होने की स्थिति में विरोध है या नहीं? **नवल जी** एक बार **जुही की कली** के सन्दर्भ में **कुबेरनाथ राय** को अवश्य पढ़ लें। इससे उन्हें यह स्पष्ट हो सकेगा कि अनेकार्थी कविता में ऐसी विरोधी स्थितियाँ सम्भव हैं, जो रचना के अर्थ-गौरव को सम्पन्नता प्रदान करती हैं। यह कोई उपहास उड़ानेवाली बात नहीं है। यह विसंरचना की कोई आरोपित स्थापना भी नहीं है, अपितु यह रचना की वह संघटनात्मक वास्तविकता है, जिसे **गिल्बर्ट हाइएट** और **कुबेरनाथ राय** के साथ-साथ विसंरचना ने भी दिखा दिया है।

नवल जी एक और प्रमाण देख लें। **राम की शक्तिपूजा** में अनेकार्थी अर्थवत्ता है। वह एक साथ क्लासिकल, रोमांटिक, आधुनिकतावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी चारो है। क्लासिकल अर्थवत्ता राम के पौराणिक कथानक की है। रोमांटिक अर्थवत्ता **राम के निराला** में और **सीता के कविता** में रूपान्तरित होने की है। आधुनिकतावादी अर्थवत्ता **राम के गाँधी** में और **सीता के भारतमाता** में अन्तरित होने की है। शक्ति क्लासिकल अर्थ में पौराणिक देवी है, रोमांटिक अर्थ में कवि की प्रतिभा है और आधुनिकतावादी अर्थ में नैतिक/आत्मिक शक्ति है। हनुमान अपने क्लासिकल अर्थ में पवन-पुत्र, रामभक्त हनुमान है। रोमांटिक अर्थ में निराला के विखंडित व्यक्तित्व का सम्भाग है तथा आधुनिकतावादी अर्थ में गरमदल का नेतृत्व करने वाले कांग्रेसी हैं। उत्तर-आधुनिकतावादी अर्थ में राम सामान्य मनुष्य है; सीता पितृसत्तात्मक व्यवस्था में प्रतिबंधित सामान्य वन्दिनी नारी। पर उसका उद्धार, उसकी मुक्ति पुरुष के विखंडित (शीजोफ्रैनिक) पौरुष से सम्भव नहीं; बल्कि स्त्री-शक्ति की पूजा-अर्चना से, समाज में उसे प्रमुखता देने से ही सम्भव है। नवल जी तो निराला के स्वयंसिद्ध विशेषज्ञ हैं। निराला पर पी-एच.डी. का पोथा लिखा है। मार्क्सवाद से जुड़कर निराला ग्रन्थावली का सम्पादन तक किया है। पर यहाँ तक, अर्थ की इस अनेकार्थता तक निश्चय ही उनकी दृष्टि अब तक नहीं पहुँची है, क्योंकि 'राम की शक्तिपूजा' वाले अपने आलेख में भी वे इस दृष्टि से अबोध ही दिखते हैं। अब भला इन सभी अनेकार्थी में परस्पर विरोधी स्थिति है या नहीं? पौराणिक राम का कभी कवि निराला होना, कभी गाँधी होना, कभी सामान्य पितृसत्तात्मक समाज का पुरुष होनाये सभी परस्पर विरोधी हैं। पर ये कविता से अभिव्यक्त होते हैं। अतः यहाँ इन सब की विद्यमानता है। नो नवल जी

ने विसंरचना पर वाग्लल का सहारा लेकर ऐसा आरोप करते हुए अपनी काव्य-विवेक-शून्यता ही दिखाई है। हिन्दी में एक लोकोक्ति है 'चले न जाने आँगन टेढ़ा'? जिस तरह पंगु अपनी पंगुता को छिपाने के लिए आँगन को टेढ़ा कहता है, उसी तरह अपनी काव्य-विवेक-शून्यता को छिपाने के लिए **नवल जी** ने विसंरचना पर ऐसा आरोप कर दिया है।

नवल का अन्तिम आरोप है कि विसंरचना उत्तर-आधुनिकता की देन हैं। यों तो **देरिदा** ने अपनी *स्येक्टर्स ऑव मार्क्स* पुस्तक पर आयोजित अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी में विसंरचना के उत्तर-आधुनिकता से जोड़े जाने पर अपने उत्तर में इसको स्पष्ट नकार दिया था, पर यदि थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें, तो इससे विसंरचना के स्वरूप-वैशिष्ट्य में भला कौन-सी बुराई आ जाती है? क्या मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद आधुनिकता की देन नहीं हैं? क्या पाठक-केन्द्रित आलोचना परिघटनावादी, मनोविश्लेषणवादी और शैली-वैज्ञानिक आलोचना की देन नहीं है? ठीक उसी तरह पाठक-केन्द्रित आलोचना विसंरचनावादी आलोचना की भी देन है, क्योंकि यह अपनी शुद्ध प्रकृति में पाठक-केन्द्रित आलोचना ही है। नवल जी उत्तर-आधुनिक आलोचना के घटक-तत्त्वों से भी परिचित नहीं हैं। अपनी इस घटकीयता के आधार पर यह आलोचना भी पाठक-केन्द्रित आलोचना सिद्ध होती है। पश्चिम में तो टी.एस. एलियट जैसे आधुनिकतावादी कवि के अनेक कविताओं को उत्तर-आधुनिक आलोचना के घटक-तत्त्वों के आधार पर विवेचित कर दिया गया है। यह भी आज से पच्चीस वर्ष पूर्व की बात है। हिन्दी में इस आलोचना के घटक-तत्त्वों से परिचित होने के लिए तथा इस आधार पर की जानेवाली पाठक-केन्द्रित आलोचना के स्वरूप से अवगत होने के लिए कोई चाहे तो मेरी पुस्तक **उत्तर-आधुनिकता : बहुआयामी सन्दर्भ** (इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2010) को देख सकता है। संक्षेप में मैं यहाँ इतना अवश्य जोड़ दूँ कि आधुनिकतावादी आलोचना जहाँ अपने स्वरूप में चाक्षुष् है, वहाँ उत्तर-आधुनिकतावादी आलोचना श्रव्य है, यह गूँज-अनुगूँज प्रधान है। पाठक-केन्द्रित आलोचना भी रचना में निहित इसी गूँज-अनुगूँज को सुनने-सुनाने का दायित्व वहन करती है।

मुझे यह सारा स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ा है कि विसंरचना के सिद्धान्त और स्वरूप से बिना अवगत और परिचित हुए ही नवल जी ने अपने उक्त आलेख में एक ओर बहुत असंगत और गलत रूप में विसंरचना विरोधी धारणा स्थापित करने का कुप्रयास किया है और दूसरी ओर उसे पाठक-केन्द्रित आलोचना से पदच्युत करने का प्रपंच और षड्यन्त्र तक रचा है। आशा है, जागरूक और प्रबुद्ध पाठक पूरी वस्तुस्थिति से अवगत हो सकेंगे और विसंरचना (डीकंस्ट्रक्शन) को पाठक-केन्द्रित आलोचना के विकास-क्रम में देख पाएँगे।

भूमण्डलीय और भारतीय सन्दर्भों में स्त्रीवाद

*पुष्पपाल सिंह

भूमण्डलीकृत प्रभाव से पूरे विश्व में एक **नई नारी चेतना** का अभ्युदय हुआ जिसे **स्त्री विमर्श ('फेमिनिज्म')** के रूप में जाना जाता है और आज जो हिन्दी में **स्त्री विमर्श** या **स्त्रीवादी विमर्श** के रूप में जोरों से चर्चा में है। भारत में नारीवादी चेतना का उदय भिन्न परिस्थितियों और परिवेश में हुआ, इसलिए उसका स्वरूप भी अमेरिका और पश्चिमी देशों से भिन्न रहा, किन्तु किसी-न-किसी रूप में उनका उत्स अमेरिकाइंग्लैण्ड आदि देशों में ही है, इसलिए वहाँ नारीवाद का जन्म और विकास जिस रूप में हुआ, उसका संक्षिप्त अवलोकन अपेक्षित है। नारीवाद से तात्पर्य है स्त्री को पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में राजनीतिक, सामाजिक, यौनिक, बौद्धिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में पुरुष के बराबर अधिकार मिले, सभी दृष्टियों से उन्हें पुरुष के समकक्ष समझा जाए, किसी भी दृष्टि से हीनतर नहीं। इसी विचार-दृष्टि से प्रेरित होकर विश्व-भर में अनेक आन्दोलन हुए तथा अनेक सिद्धान्त, विचार-सरणियाँ प्रस्थापित-प्रचारित हुईं। इन सबका मुख्य उद्देश्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री-स्वातन्त्र्य और अस्मिता का सम्मान कर उसे समाज में समादृत स्थान दिलाना रहा जिससे लैंगिकता के आधार पर स्त्री के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार कर उसे 'दोयम' दर्जे की सामाजिक इकाई न समझा जाए।

पश्चिम के नारीवादी आन्दोलन के इतिहास को तीन चरणों में रखकर देखा गया है। प्रथम चरण 19वीं शदी से 20वीं शदी के प्रारम्भ, प्रायः 1920 ई. तक, माना गया है जिस दौर में इसका उद्देश्य नारी की राजनीतिक स्तर पर पुरुष के समान अधिकार दिलाना, विशेषतः उसे पुरुष के समान ही मताधिकार दिलाना रहा। इसके साथ ही सम्पत्ति तथा कार्य-क्षेत्र में भी स्त्री को समान अधिकार दिलाकर उसे अपने शरीर का भी पूरा मालिकाना हक दिलाना था जिससे वे स्वाभिमानपूर्वक मातृत्व धारण,

* डॉ. पुष्पपाल सिंह, पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला 147002। पता : 63, केशर बाग, पटियाला-147001

गर्भ-पात आदि के निर्णय स्वयं ले सकें और उनका शरीर उनकी अपनी सम्पत्ति है, पति को उसके यौनिक सम्बन्धों का निर्धारक बनने का अधिकार नहीं है। इंग्लैण्ड में महिला-आन्दोलनों के परिणामस्वरूप 1918 ई. में 30 वर्ष से ऊपर की महिलाओं को सर्वप्रथम मताधिकार ('राइट ऑफ वोट') प्राप्त हुआ; 1928 ई. में जाकर 21वर्ष तक की सभी महिलाओं को यह अधिकार प्रदान कर दिया गया। 1919 ई. में अमेरिका के सभी राज्यों में महिलाओं को मताधिकार प्रदान कर दिया गया। मताधिकार के अतिरिक्त जीवन के सभी क्षेत्रों में स्त्री को समान अधिकार दिलाने के प्रयत्न इस प्रथम चरण में चलते रहे। इसके बाद अमेरिका में तो 1920 के बाद यह नारीवादी आन्दोलन मृतप्राय ही हो गया। 1949 ई. में सीमोन द' बोउवार की प्रसिद्ध कृति 'द सेकिण्ड सेक्स' का प्रकाशन हुआ जो नारीवादी आन्दोलन में तो प्रमुख स्थान रखती ही है, समस्त विश्व के वैचारिक जगत में इस कृति ने उथल-पुथल मचा दी।

नारीवादी आन्दोलन की द्वितीय लहर के रूप में 1960 ई. के बाद यह आन्दोलन पुनर्जीवित होना प्रारम्भ हुआ। इसके पुनः अस्तित्व में आने के स्पष्ट लक्षण तो अमेरिकी राष्ट्रपति केनेडी द्वारा 1961 ई. में महिला-स्थिति के आकलन के लिए गठित 'कमीशन ऑन द स्टेटस ऑफ वीमेन' के अस्तित्व में आने से दिखाई देने प्रारम्भ हुए। इस कमीशन ने कई सर्वे-रिपोर्ट प्रस्तुत कीं, जिनमें आँकड़ों सहित समाज में स्त्री की दोयम दर्जे की स्थिति का आकलन-विश्लेषण किया गया। अनेक नारीवादी सक्रिय कार्यकर्ता ('एक्टिविस्ट') लैंगिक आधार पर मिलने वाले असमान सामाजिक-राजनीतिक व्यवहार के प्रति स्वर उठाते रहे। नारी-स्वातन्त्र्य ('वीमेन्स लिबरेशन') पद का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिका में 1964 ई. में 'रैम्पार्ट्स' (Ramparts) नामक पत्रिका में हुआ और नारीवाद के साथ विवादित 'ब्रा-बर्निंग' आन्दोलन भी जुड़ गया। 1966 ई. में बैटी फ्रीडन ने राष्ट्रीय महिला संघ (नेशनल आर्गेनाइजेशन फॉर वीमेन) नामक संस्था की स्थापना की, जिसने इस आन्दोलन को बहुत सही परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की चेष्टा की। फ्रीडन का विचार था कि पारिवारिक दायित्वों तथा मातृत्व धारण का निर्वाह तो स्त्री का कर्तव्य है ही, उसके पश्चात् ही उसे अपने अधिकारों के प्रति सचेत और सक्रिय होना है। 1966-68 के बीच स्त्रीवादी आन्दोलनों से जुड़ी नई पीढ़ी ने और अधिक सचेत रूप में शिकागो, टोरंटो, डेट्रोयट, सीएटल, जेन्सविले, आदि नगरों में अपने-अपने कुछ अध्ययन-समूह ('स्टडी सर्किल्स') बनाए और 1968 में राष्ट्रीय स्तर पर गोष्ठी आयोजित की जिसमें अमेरिका, कनाडा आदि से आए 200 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 1969 ई. तक इस आन्दोलन ने इतना जोर पकड़ लिया कि अमेरिका, कनाडा आदि में 'महिला-मुक्ति', 'नारी-मुक्ति' ('वीमेन लिबरेशन') घर-घर में जनप्रिय हो उठा। यह एक प्रकार से नारी-मुक्ति के नए द्वार खोलने का आन्दोलन बन गया। बीसवीं शती में आठवें दशक के बाद (1980-90 में)

नारी-मुक्ति आन्दोलन की तीसरी लहर मानी जाती है। यह वह समय है जब यह आन्दोलन विश्व के प्रायः सभी देशों में अपनी जड़ें जमा चुका है और प्रत्येक देश में स्त्री-अधिकारों के लिए संगठन बन गए हैं और अनेक मुक्ति-आन्दोलनों के बीच नारीवादियों में विभिन्न मुद्दों को लेकर तीव्र विवाद हुए। कैरॉल गिलिगन (Carol Gilligan) जैसी मनोवैज्ञानिकों ने इस मान्यता पर बल दिया कि स्त्री-पुरुष के बीच मौलिक रूप से लैंगिक वैभिन्य है, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए किन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसी विचारक थीं जिनकी मान्यता थी कि उन दोनों के बीच लैंगिक भेद सामाजिक परिस्थितियों के कारण है, यही उनकी कार्य-प्रणाली में अन्तर उपस्थित करता है। कुछ लोगों का विचार था कि आज की परिस्थितियों में नारीवाद बेमानी होकर रह गया है, अब उसके आन्दोलनधर्मी रूप की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। उनका मत था कि नारीवादी आन्दोलन ने महिलाओं को उनके अधिकार दिलाकर पूरी तरह पुरुष-समक्षता में ला खड़ा किया है। उन्हें यौनिक स्वतन्त्रता पूरी तरह प्राप्त हो गई है जिसके प्रमाण में वे अमेरिकी-पश्चिमी-टी.वी. की बहुत-सी प्रस्तुतियों का साक्ष्य देते हैं, यथाब्रिजेट जोन्स डायरी, 'सैक्स एंड द' सिटी, एली मकबील आदिये सभी सीरियल नारी को प्राप्त यौनिक स्वतन्त्रता (सैक्स फ्रीडम) का उद्घोष हैं। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में नारीवाद के इस नए रूप को अपने-अपने राष्ट्र की परिस्थितियों के अनुरूप ही स्वीकृति मिल सकी, यथाअमेरिका में श्वेत-अश्वेत महिलाओं के सन्दर्भ में समस्या का आकलन किया गया। इसी प्रकार अन्य देशों में भी जातीय ('रेस') आधार पर स्त्रीवाद पर विचार हुआ। कुछ लोगों के अनुसार नारीवाद 'स्त्री में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता जगाना है' तो कुछ ने इसे पुरुषों के समान सभी क्षेत्रों में समान अधिकार और समान कार्य के लिए समान वेतन, पारिश्रमिक की माँग के रूप में देखा। किन्तु अभी भी पाकिस्तान जैसे राष्ट्र हैं जहाँ महिलाओं के मत का पुरुषों के मतों के समान गणन-मूल्य नहीं होता। उनके यहाँ स्वात घाटी में जिस प्रकार महिलाओं के लिए पृथक् आचार संहिता और दण्ड संहिताएँ हैं, वे तो किसी आदिम युग के ही अवशेष हैं।

भारत में नारीवादी आन्दोलन का स्वरूप कुछ भिन्न रहा है जिसे तीन चरणों में रखकर देखा जा सकता है प्रथम चरण 1820-1914 ई., द्वितीय चरण 1915-1947 ई. तथा तृतीय चरण 1970 से अद्यतन। भारत में नारी-जागृति के प्रयत्नों का इतिहास सर्वप्रथम, शेष विश्व से इस रूप में अलग है कि प्रारम्भ से ही इस ओर पुरुष वर्ग ने अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया और दूसरे, बाद में चलकर नारी-जागृति को सीधे-सीधे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम-आन्दोलन से सम्बद्ध कर देखा गया। 1850 से भी पूर्व 1829 ई. में जब विलियम बैंटिक ने सती प्रथा उन्मूलन के लिए कानून बनाया तो यह नारी-दशासुधार की ओर प्रथम सराहनीय पग था। राजा राममोहन राय के सहयोग और प्रोत्साहन से विलियम बैंटिक ने वह कार्य सम्पन्न कर दिखाया जो अकबर, औरंगजेब, पेशवाओं और जयपुर के शासक महाराज जयसिंह आदि के प्रयत्न करने पर भी सम्भव न हुआ था।

इसी प्रकार कन्या-हत्या के विरुद्ध कानून 1795 तथा पुनः 1802 ई. में बनाए जा सके थे किन्तु इन कानूनों का कठोरता से पालन बैंटिक तथा हार्डिंग के समय में ही आकर सम्भव हुआ (यद्यपि यह कुप्रथा रुक अभी तक नहीं पाई है और अब कन्या-भ्रूण-हत्याएँ बढ़ती चली जा रही हैं)। 1856 ई. में ब्रिटिश सरकार ने एक और क्रान्तिकारी कदम उठाया जब विधवा पुनर्विवाह कानून पास कर दिया गया। यद्यपि इसके लिए पं. विद्यासागर जैसे समाज-सुधारक पहले से ही सक्रिय रूप में प्रचार कर रहे थे। कानूनी रूप से विधवा विवाह स्वीकृति भी एक बड़ा पग थी, यद्यपि इनके परिणाम लगभग नगण्य ही रह पाए। किन्तु फिर भी विद्यासागर जी के विधवा पुनर्विवाह आन्दोलन में दाय को भुलाना सम्भव नहीं होगा। रूढ़ियों में बुरी तरह जकड़े उस बंगाली समाज में 1855-60 ई. के बीच उन्होंने 25 विधवा विवाह सम्पन्न कराए और इन युगलों को आर्थिक सहायता भी दी। 1850 ई. में पं. विद्यासागर ने बाल-विवाह का विरोध करने का भी बीड़ा उठाया था, और वे बहु-विवाह प्रथा के खिलाफ भी आन्दोलन करते रहे। 1840-50 ई. के बीच नारी-शिक्षा के प्रति भी जागरूकता आनी प्रारम्भ हुई, 1849 ई. में कलकत्ता में बेथून स्कूल की स्थापना इस शिक्षा की दिशा में सार्थक पग था। यद्यपि 1821 में लड़कियों की शिक्षा का द्वार ईसाई मिशनरियों द्वारा खोला जा चुका था, किन्तु उनके यहाँ मुख्य बल शिक्षा पर न होकर उनके धर्म की शिक्षा पर था, इसलिए उसका वांछित प्रभाव समाज पर न पड़ा। महाराष्ट्र में भी इस ओर प्रयत्न प्रारम्भ हुए। 1851 ई. में जोतिबा फुले और उनकी पत्नी के प्रयत्नों से पुणे में एक कन्या विद्यालय खुला। फुले दम्पति ने विधवा-विवाह के लिए भी प्रयत्न किए। इनकी प्रेरणा से नारी-उत्थान के अन्य कार्यक्रम प्रारम्भ हुए। विष्णु शास्त्री पंडित ने 'विधवा पुनर्विवाह सभा' ('विडो रिमैरिज एसोशिएन) नामक संस्था बना डाली। 1852 में गुजरात में सत्यप्रकाश जी ने विधवा पुनर्विवाह का आन्दोलन चलाया। हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती, आदि भारतीय भाषाओं के साहित्य ने भी इस ओर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज की स्थापना (1869) के पश्चात् नारी-जागृति के आन्दोलन को और भी बल मिला। कन्या-शिक्षा के क्षेत्र में अपने डी.वी. गर्ल्स स्कूल, आर्य कन्या पाठशालाओं की शृंखला से नारी-शिक्षा और नारी-जागृति में आर्य-समाज ने अविस्मरणीय योगदान दिया।

राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन नेशनल कांग्रेस) की स्थापना के पश्चात् तो भारत में नारी-उत्थान-आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़कर और भी सशक्त रूप धारण कर लेता है। राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधी जी ने सदैव महिला-जागृति को महत्त्व दिया और उनकी प्रेरणा से हजारों स्त्रियाँ सहर्ष जेल गईं और विभिन्न रूपों में जलसों, पिकेटिंग, शराबबन्दी, विदेशी वस्तुओं-वस्त्रों के बहिष्कार, आदि स्वतन्त्रता-संग्राम की गतिविधियों में उन्होंने बढ़-चढ़कर भाग लिया। 1950 ई. आते-आते राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रधान (प्रेसीडेंट) के रूप में सरोजिनी नायडू का चुनाव जाना, महिला-जागृति की दिशा में एक बड़ा पग है, मानो सुदीर्घ वर्षों के संघर्ष का फल नारी-शक्ति को मिला था। 1930 ई. में सरोजिनी

नायडू ने अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन ('ऑल इण्डिया वीमेन्स क्रांफ्रेंस) को बम्बई में जो उद्बोधन दिया, यह द्रष्टव्य है, "हम कमजोर, डरपोक, अत्याचार सहने वाली स्त्री नहीं हैं, हमारे आदर्श के रूप में साहसी सावित्री और अपने सतीत्व की रक्षा करने वाली सीता जैसी देवियाँ हैं।" 19वीं शती के अन्तिम वर्षों में बीसवीं शती आते-आते हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने भी नारी-जागृति के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसका भी संकेत-मात्र करना यहाँ अपेक्षित है। 1874 ई. से काशी से भारतेन्दु जी के सम्पादकत्व में पहली महिला-पत्रिका 'बाला-बोधिनी' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसने अपने चार वर्षों के प्रकाशन-काल में महिला-जागरण, स्त्री-शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसके मुख-पृष्ठ पर जो दोहे प्रकाशित होते थे, उनमें से एक का उदाहरण द्रष्टव्य है जो स्त्री-पुरुष समानता का उद्घोष इस रूप में करता है

*"जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति।
जो नारी सोई पुरुष यामें कछु न विभक्ति।।"*

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कुछ वर्ष नारी-जागृति का आन्दोलनात्मक रूप कुछ शान्त ही रहा। स्वतन्त्रता के बाद जो नई पीढ़ी शिक्षित होकर आई, उस पर विश्व के नारीवादी आन्दोलनों की सक्रियता का प्रभाव पड़ा और पूरे वैश्विक सन्दर्भ में जिस रूप में एक नई नारी-चेतना विकसित हो रही थी, भारतीय परिदृश्य में भी 1970 के बाद उसका बहुत स्पष्ट प्रभाव स्वरूप ग्रहण करने लगा। यहाँ भी स्त्री-मुक्ति के कितने ही संगठन अस्तित्व में आए। यथा 1975 ई. में स्त्री मुक्ति-संगठन ('वीमेन्स लिबरेशन संगठन') की स्थापना हुई। भारतीय सन्दर्भ में एक बात विशेष महत्त्व की यह है कि जिस महिला मताधिकार के लिए इंग्लैण्ड-अमेरिका में स्त्री-संगठनों को सत्तर वर्षों तक निरन्तर संघर्ष करना पड़ा, वे भारतीय नारी को स्वतः ही, बिना किसी संघर्ष के प्राप्त हो गया। राष्ट्रीय स्तर पर नारी-हितों की रक्षक संस्था के रूप में सरकार ने जनवरी 1992 में राष्ट्रीय महिला आयोग की स्थापना कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अनेक सजग महिला-कार्यकर्ताओं (वीमेन एक्टिविस्ट) ने महिलाओं को जागरूक बनाने, उनके अधिकारों की रक्षा, लैंगिक आधार पर किसी भी प्रकार के भेद-भाव का विरोध, देहज-प्रथा का विरोध, कार्य-स्थलों पर विभिन्न प्रकार के उत्पीड़नों का विरोध, वैयक्तिक स्तर पर नारी को सभी प्रकार की देहगत, वैचारिकस्वतन्त्रता, महिलाओं का प्रत्येक क्षेत्र, विशेषतः संसद और विधान सभाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण, आदि को अपना लक्ष्य बनाकर तत्सम्बन्धी क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किए हैं। कई महिलाओं ने महिला-हितों, अधिकारों के लिए निरन्तर कार्य किया है। इन सबके बावजूद नारी-उत्पीड़न, बालिकाओं का बलात्कार, देहज-मृत्यु-हत्याएँ, आदि का होना चिन्ता के विषय हैं। देश में अठारह वर्षों तक इन्दिरा गाँधी जैसी सशक्त महिला का प्रधानमन्त्री के रूप में शासन रहा, किन्तु वह भी स्त्री को उसकी समस्याओं से मुक्ति न दिला सका। 1980 ई. में अखिल भारतीय महिला सम्मलेन ('आल इण्डिया वीमेन्स कांफ्रेंस') को सम्बोधित करते हुए इन्दिरा गाँधी ने विश्व की आधी जनसंख्यास्त्रियोंके

प्रति सामाजिक अन्याय पर चिन्ता व्यक्त की थी।¹

1990 ई. के बाद भारत में महिला-जागृति का कोई संगठनात्मक रूप प्रखर रूप से सामने नहीं आता है, किन्तु विभिन्न समाज-चिन्तकों तथा लेखक-लेखिकाओं की दृष्टि इस ओर निरन्तर गई है कि युग-युग से प्रताड़ित भारतीय नारी को पुरुष-सत्तात्मक व्यवस्था में किस प्रकार समान और सम्मानप्रद स्थान दिलाया जा सकता है। कमला भसीन, चकी सरकार, कुमारी जयवर्धन, उमा शंकर झा, लिडले, पेट्रेशिया जेफरी, रोजर जैफरी, इरा माथुर, राजेश्वरी सुन्दरराजन, कमला विश्वेरन, इन्द्रा घोष, नीता, प्रभा खेतान, मृणाल पाण्डे, आदि ने अपने अध्ययनों द्वारा स्त्रीवादी विमर्श में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अनेक हिन्दी लेखिकाओंमृणाल पाण्डे, प्रभा खेतान, मृदुला सिन्हा, अनामिका, क्षमा शर्मा, लवलीन, विभा देवसरे, शशि कला राय, लता शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा आदि ने अपनी प्रखर सोच से नारी-विमर्श में अपनी पुस्तकों द्वारा योग दिया।² स्त्री-विमर्श सम्बन्धी महिला साहित्यकारों की पुस्तकों की बात आई तो यहाँ 'काली फॉर वीमेन' प्रकाशन संस्थान की चर्चा आवश्यक लग रही है जो एशिया की प्रथम और कदाचित् एकमात्र स्त्रीवादी ('फेमिनिस्ट') प्रकाशन संस्था है जिसकी स्थापना 1984 ई. में रितु मेनन तथा उर्वशी बुटालिया द्वारा की गई। प्रथम वर्ष में दो पुस्तकें प्रकाशित करने के प्रस्थान बिन्दु से आज यह संस्था लेखिकाओं की एक वर्ष में 12 पुस्तकें प्रकाशित कर रही है जिनका विषय नारी-समस्याएँ ही रहता है।

अब विश्व-भर में महिला सशक्तीकरण आन्दोलन (एम्पारवरमेंट ऑफ वीमेन) का जोर है। 17 अप्रैल, 2008 को डेनमार्क के कोपेनहेगेन नगर में एम.डी.जी. 3 सम्मेलन (MDG 3 Conference) का आयोजन कर आर्थिक क्षेत्र में महिला सशक्तीकरण की दिशा में वैश्विक स्तर पर कारगर कदम उठाने का संकल्प लिया गया। डेनिश सरकार ने 7 मार्च, 2008 को अपनी मन्त्री-परिषद् के एक मन्त्री सुश्री उल्ला टॉरनीज के द्वारा-ग्लोबल कॉल टू एक्शन कम्पेन' कार्यक्रम घोषित कराया जो लैंगिक आधार पर सबकी समानता का स्वप्न पूरे विश्व के लिए देखता है।

नारीवादी प्रयत्नों से भारत में जिस **नई नारी-चेतना** का उदय हुआ है, उसके केन्द्र में नारी की आर्थिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता है। समाज में समान अवसरों, कार्य, रोजगार, सम्पत्ति में समान अधिकार, पितृ-सत्तात्मक परिवार और समाज-व्यवस्था में सम्मानपूर्ण स्थान, सभी प्रकार के महिला उत्पीड़नों-अत्याचारों के विरुद्ध सक्षम रूप में खड़े होना तथा वैयक्तिक स्तर पर विवाह, यौनिक स्वातंत्र्य, मातृत्व अधिकार, गर्भ-निरोधक उपकरणों-औषधियों आदि के प्रयोग में स्वविवेक और स्व-निर्णय का अधिकार आज भारतीय नारी के स्त्रीवादी विमर्श के चिन्ता के केन्द्र में हैं।

संदर्भ

1. उद्धृत, 'सरला : एक विधवा की आत्म-जीवनी, प्रज्ञा पाठक, पृ.17।
2. "आई हैव ऑफन सैड दैट, आईम नॉट ए फेमिनिस्ट, येट, इन माइ-कन्सर्न फॉर द' इम्प्रिवेलेंड, हाउ कैन आई इग्नोर वीमन हू, सिन्स द' विगानिंग ऑफ हिस्ट्री हैव बीन चिन्तन-सृजन-वर्ष-8, अंक-2, अक्टूबर-2010, अक्षय शोशल कस्टम एण्ड मोर एक्टिव, नॉट बिकाज दे आर वीमन, 71 बट, बीकाज दे डू कम्प्राइज हॉफ द' ह्यूमन रेस।" इंटरनेट से, सागरिका सतपथी का लेख।

मेरी बेजिंग-डायरी के पन्नों से 1999-2007

सत्यमित्र दुबे*

पृष्ठभूमि :

अपनी बड़ी एवं छोटी बेटी के क्रमशः हांगकांग एवं गुआंगझाउ में नियुक्ति के कारण सन् 1999 के बाद से ही हांगकांग, मकाउ, दक्षिणी चीन के सर्वाधिक विकसित गुआंगझांग प्रान्त की राजधानी गुआंगझाउ (आबादी करीब 1 करोड़, 20 लाख) शेनजेन (आबादी करीब 1 करोड़, 20 लाख), डांगगुआन (आबादी करीब 65 लाख) और फोसान (आबादी करीब 65 लाख) जाने का मुझे अवसर मिलता रहा। हांगकांग (आबादी 70 लाख) वैश्विक पूँजी का केन्द्र, वैयक्तिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के मानक पर दुनिया का सर्वश्रेष्ठ नगर अनेक वर्षों से घोषित होता रहा है। पहली जुलाई, 1997 से पूर्व हांगकांग इंग्लैण्ड का एक उपनिवेश था जो अब चीन का 'विशेष प्रशासकीय क्षेत्र' है। दुनिया में कैसिनो तथा जुआ के सबसे बड़े केन्द्रों में से एक मकाउ दिसम्बर, 1999 तक पुर्तगाल का उपनिवेश था जो अब चीन का 'विशेष प्रशासकीय क्षेत्र' है। मकाउ (आबादी करीब छः लाख) एक छोटा द्वीप है लेकिन इसकी सामरिक-व्यापारिक स्थिति के कारण सोलहवीं सदी से ही इस पर यूरोपीय देशों की नजर टिकी रही। सन् 1980 तक शेनजोन (आबादी 30 हजार) चीन का प्रथम 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' घोषित हुआ था। आज वह चीन के 'विकास का इंजन', निर्यात और उत्पादन का विशालतम केन्द्र तथा दुनिया के बड़े बंदरगाहों में से एक है। डांगगुआन और फोसान औद्योगिक उत्पादन और निर्यात के लिए जाने जाते हैं।

* प्रो. सत्यमित्र दुबे, वरिष्ठ समाजशास्त्री, सामाजिक-मानवीय सरोकारों से जुड़े मुद्दों के साथ गहरी भागीदारी, सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषक। सम्पर्क : 1216, सेक्टर 37, अरुण विहार, नोएडा 201303, फोन 0120-2432331, ई-मेल : smdubey12@rediffmail.com

** हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में इसे 'बीजिंग' लिखा जा रहा है। जाँच-पड़ताल के बाद मैंने पाया कि चीन में इसका उच्चारण 'बेजिंग' है।

सामान्य रूप से पूरी दुनिया में तथा विशेषकर भारत में चीन की सत्ता, संस्कृति, अर्थतन्त्र के प्रतीक के रूप में बेजिंग* (राजधानी) और संघाई (आर्थिक-व्यापारिक

केन्द्र) की एक खास पहचान बनी हुई है। लेकिन पिछले तीस वर्षों में प्रगति की सबसे तेज रफ्तार गुआंगझांग प्रान्त और उसकी राजधानी गुआंगझाउ (पूर्व कैण्टन) में रही है चीन में यही एक प्रान्त है जिसकी आबादी में से 50 प्रतिशत से अधिक निवासी नगरों में रहते हैं। चीन में शेनजेन तथा गुआंगझाउ दो ऐसे नगर हैं जहाँ प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय 10 हजार अमेरिकी डॉलर है।

मेरी भी बेजिंग और संघाई जाने की बड़ी इच्छा थी। चीनी सभ्यता, संस्कृति को समझने, चीन के सामान्य जन की दिनचर्या को एक सामान्य पर्यटक के रूप में देखने के लिए मेरी योजना सपत्नीक हांगकांग से बेजिंग (2700 किलोमीटर) और बेजिंग से संघाई (1400 किलोमीटर) ट्रेन से यात्रा करने की थी। लेकिन मेरी दोनों बेटियों को मेरी यह योजना रास नहीं आई। भाषा की दुरुहता, शाकाहारी भोजन की दुर्लभता तथा बाथरूम की स्वच्छता के स्तर को लेकर उनके मन में अनेक शंकाएँ थीं। अन्त में मेरी इच्छा के विपरीत उन्होंने जुलाई-अगस्त, 2007 में मेरी और मेरी पत्नी की बेजिंग-संघाई यात्रा का छोटा-मोटा राजसी कार्यक्रम निर्धारित कर दिया। उनके कार्यक्रम के अनुसार हम दोनों को हवाई जहाज से यात्रा करनी थी। हमें केवल टैक्सी से चलने की सलाह थी। बेजिंग में हमारे निवास की व्यवस्था नगर के भव्यतम केन्द्रीय वाणिज्य डिस्ट्रिक्ट के शानदार वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर के सर्विस अपार्टमेन्ट में की गई। संघाई के सबसे सम्भ्रान्त फ्रेंच कंसेशन के इलाके में स्थित विरासत से जुड़े होटल में हमें रुकना था। यह मेरी बेजिंग-संघाई की पहली यात्रा थी। मार्च, 2008 में मेरी छोटी बेटी की नियुक्ति गुआंगझाउ के स्थान पर बेजिंग में हो गई। अक्टूबर, 2008 में मैं दूसरी बार अपनी पुरानी इच्छा की पूर्ति हेतु ट्रेन द्वारा हांगकांग से बेजिंग गया था और वहाँ मुझे करीब तीन मास तक रहने का अवसर मिला। चीनी भाषा, वर्णमाला की जटिलता, चीनी साहित्य की समृद्धि, चीनी चित्रकला की प्रवृत्ति, चीनी परम्परा-इतिहास, चीन के आधार भूत ढाँचा, उसकी अर्थव्यवस्था और राजनीति संरचना को समझने का मेरे समाजशास्त्री मन को इस बार यथेष्ट अवसर उपलब्ध हुआ। इस बार की यात्रा में मुझे बेजिंग, संघाई की तरह संवैधानिक रूप से 'नगर प्रान्त' का दर्जा प्राप्त तियानजिन जाने का भी मौका मिला। चीन की मेरी तीसरी यात्रा मई, 2010 में दिल्ली से सीधे बेजिंग तक एयर चाइना के विमान द्वारा सम्पन्न हुई। वहाँ मैं ठीक तीन महीने तक रहा। इस बार मैं चीनी सभ्यता के उद्गम स्थल और प्रायः 1200 वर्षों तक चीन की राजधानी रहासि'यान भी गया। चीनी यात्री हेनच्यांग (चीनी में श्वेनच्यांग) सि'यान से ही भारत की यात्रा पर आए थे।

लम्बे औपनिवेशिक शासन, अंग्रेजी के प्रभाव तथा गुलाम मानसिकता के कारण हम इंग्लैण्ड, अमेरिका के विषय में तो जानकारी रखते हैं, लेकिन दक्षिण-पूर्व एशिया, जापान-चीन, मध्य-एशिया की तो बात छोड़ दीजिए, अपने अन्यतम पड़ोसियोंनेपाल,

भूटान, म्यानमार एवं श्रीलंकाके विषय में भी हमारी जानकारी या तो न के बराबर है या है भी तो अत्यन्त सतही। बाजार और वाणिज्य से, आक्रान्त मनोवृत्ति ने इन देशों से हमारे सदियों पुराने सांस्कृतिक सम्पर्कों से हमें काट दिया है। नतीजा है कि ये देश भी हमसे दिन-प्रति-दिन कटते गए हैं और वे भारत विरोधी शक्तियों की गतिविधियों का केन्द्र बनते जा रहे हैं।

चीन भारत का पड़ोसी देश है। भारत की तरह चीन की सभ्यता भी सहस्राब्दियों पुरानी है। भारत से चीन ने बहुत कुछ लिया। परम्परागत चीनी शब्दावली में 'भारत पश्चिम का स्वर्ग' माना जाता रहा है। भारत-चीन के बीच के प्राचीन सांस्कृतिक सम्पर्कों और समकालीन राजनयिक-आर्थिक प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से पड़ोसी चीन को समझना बूझना बहुत आवश्यक है। समाजशास्त्र के एक अध्येता होने के कारण मैं मुख्य रूप से चीन के इतिहास, समाज और संस्कृति को पूरी रुचि और सहानुभूति से देखना-परखना चाहता था। आधारभूत संरचना तथा आर्थिक विकास के क्षेत्र में चीन में अप्रत्याशित प्रगति हुई है। कोई भी पर्यटक उससे आँख नहीं मूँद सकता है। चीन के समाज, संस्कृति, आर्थिक विकास को लेकर मेरे मन में जो प्रभाव अंकित हैं, उनकी अभिव्यक्ति मेरे चीन प्रवास के मध्य मेरी डायरी के पन्नों के माध्यम से होती रही है। डायरी के उन पन्नों के कुछ अंश नीचे अंकित हैं।

28 जुलाई, 2007

अस्मिता (मेरी छोटी बेटा) के प्रबंधन के नियमों के अनुसार हमारे लिए मिनट दर मिनट बने कार्यक्रम का अनुसरण करते मुझे सप्लीक आज गुआंगझाउ से बेजिंग के लिए अपनी पर्यटन यात्रा पर निकलना है। सदर्न चाइना की उड़ान प्रातः 9 बजे है। सुबह उठ कर जल्दी-जल्दी तैयार हुआ। 7 बजे हम लोग अस्मिता (बेटा) और रूपम (दामाद) के साथ घर से निकल पड़े। गुआंगझाउ एयरपोर्ट जानेवाला एक्सप्रेस वे अत्यन्त प्रशस्त, सजा-धजा और खूबसूरत है। टैक्सी से 15-20 मिनट चलने के बाद पता चला कि मेरी पत्नी ने अपना नया मोबाइल घर पर ही छोड़ दिया है। अनजान देशों में जहाँ भाषा की कठिनाई हर कदम पर अनुभव होती है, वैसी परिस्थिति में मोबाइल कितना उपयोगी सिद्ध होता है, उसे एक पर्यटक ही समझ सकता है। यह मोबाइल बेजिंग-शंघाई यात्रा के अवसर पर हर क्षण अपनी दोनों बेटियों के सम्पर्क में रहने के लिए खरीदा गया था। रूपम मोबाइल ले आने के लिए घर वापस आ गए। अस्मिता के साथ हम लोग एयरपोर्ट पहुँचे।

मेरा अनुभव भारतीय हवाई अड्डों की सुरक्षा-व्यवस्था और पुलिस-प्रबन्ध का था। मुझे चिन्ता थी कि हम लोग चेक-इन के लिए जब अन्दर चले जाएँगे तो अस्मिता को बाहर खड़ा रह कर रूपम की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। लेकिन यहाँ सब कुछ शान्त

और सामान्य था। चीन में भी उड़गर मुस्लिम पृथकतावादी आतंक का खतरा है। बेजिंग में भी पहले आतंकवादी गतिविधियाँ होती रही हैं। अस्मिता ने बताया कि मैं केवल एयरपोर्ट के अन्दर ही नहीं बल्कि सुरक्षा-जाँच के द्वार तक आप लोगों को विदा करने जाऊँगी। चेक-इन के बाद हमें थोड़ी देर तक रूपम की प्रतीक्षा करनी पड़ी। मेरा दो वर्ष का नाती एयरपोर्ट के फर्श पर किलकारियाँ भरता दौड़ता रहा और चीनी किशोरियाँ उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे भागती रहीं। रूपम और अस्मिता सुरक्षा द्वार तक हमें विदा करने आए। जहाज ने 9.15 पर उड़ान भरी। टिकट लेते समय हमारे शाहकाहारी होने की बात दर्ज करा दी गई थी लेकिन नाश्ता और खाना को लेकर सर्वभक्षी चीन में शाकहारी भारतीय मानसिकता में चिन्ता बनी रहती है। जूस और कॉफी के साथ 'वेज' (शाकाहारी) लेवल लगा नाश्ता हमें मिल गया। जुलाई-अगस्त उत्तरी चीन में ग्रीष्म के महीने होते हैं। उस समय बेजिंग का तापमान 37-38 डिग्री पर टिका रहता है। जहाज उड़ने के प्रायः डेढ़ घण्टे बाद आसमान में काले बादल घिर आए थे। मैंने सोचा कि यदि वर्षा हो गई तो बेजिंग की इस समय की गर्मी से छुट्टी मिलेगी। तीन घण्टे की उड़ान के बाद 12.10 पर जाहज बेजिंग के पुराने अड्डे पर उतर गया। हमने देखा कि अगस्त, 2008 में बेजिंग-ओलिंपिक की तैयारियों के अन्तर्गत बेजिंग का नया विशाल निर्माणाधीन हवाई अड्डा तैयार होने की ओर है। हांगकांग के नए हवाई अड्डे की तर्ज पर बना गुआंगझाउ का हवाई अड्डा अब तक चीन का सर्वाधिक आधुनिक हवाई अड्डा माना जाता है।

हवाई अड्डा से बाहर निकलते ही एक टैक्सी ड्राइवर ने हमें पकड़ लिया। भाषा की दिक्कत और मोलभाव की झंझट से बचने के लिए मैंने उसे अस्मिता द्वारा अंग्रेजी। चीनी में तैयार किए गए यात्रा-विवरण के प्रपत्र पर लिखे अपने गंतव्य 'वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर होटल' को दिखा दिया। हमने समझा था कि वह मीटर से चलेगा। लेकिन करीब एक किलोमीटर चलने के बाद उसने हमें अपना मोबाइल पकड़ा दिया। उधर से एक महिला ने कहा कि टैक्सी का भाड़ा दो सौ युवान (करीब 1200 रुपया) होगा। मेरी बेटा ने बता रक्खा था कि मीटर से किराया करीब साठ युवान होगा। हमने जब टैक्सी रोकने के लिए कहा और मेरी पत्नी ने अपने सीखे एक दो चीनी शब्दों का जब प्रयोग किया तो उस तरफ से महिला ने कहा कि अच्छा सौ युवान दे दीजिएगा। बीच रास्ते में नई जगह में हमें टैक्सी नहीं मिलती, अतः उस महिला की बात हमने मान ली। दिल्ली की तुलना में बेजिंग के टैक्सी ड्राइवर अधिक विश्वसनीय और शिष्टाचार युक्त हैं लेकिन हमारा पहला अनुभव दुःखद रहा।

ऊपर बादल घिरे थे। थोड़ी वर्षा हो चुकी थी। ठण्डी हवा बह रही थी। मौसम सुखद हो गया था। टैक्सी हवाई अड्डा के सुसज्जित एक्सप्रेस वे पर भागती रही। करीब 35 मिनट में हम लोग अपने होटल पहुँच गए। हम यह देखकर थोड़ा चकित

रह गए कि रूपम और अस्मिता ने हम लोगों के लिए पाँच सितारा होटल से भी अधिक सुविधाओं वाला वर्ल्ड ट्रेड टॉवर अपार्टमेंट में एक पूरा सुइट हमारे रुकने के लिए बुक करा रक्खा है। उसमें दो बेड रूम, ड्राइंग-डाइनिंग रूम, रसोई घर, सामान रखने का कक्ष, दोनों कमरों और ड्राइंग रूम में टी.वी., टेलीफोन की सुविधा थी।

थोड़ा व्यवस्थित होने के बाद, तिआनानमेन चौक तक जाने के लिए हम बाहर निकले। मुख्य सड़क पर आते ही, उसकी लेन, साइकिल लेन, पैदल चलने वालों की लेन, चौड़े फुटपाथ, हर दो सौ मीटर पर पत्र-पत्रिकाओं के सजे किसोक आदि की अत्यन्त नियोजित व्यवस्था ने हमारे मन पर सकारात्मक छाप छोड़ी। सड़क पर आते ही चार-पाँच चीनी युवाओं ने हमें अत्यन्त शालीनता से घेर लिया। उसमें से एक लड़की थोड़ी अंग्रेजी बोल पा रही थी। उसने बताया कि वे लोग बेजिंग में विश्वविद्यालय में चित्रकला के छात्र हैं। बगल में ही हमने अपनी कलाकृतियों की एक प्रदर्शनी लगा रक्खी है। प्रदर्शनी निःशुल्क है। आप लोग चलकर देख लें तो हम आभार मानेंगे। हमें जल्दी थी, फिर भी मेरे अध्यापक मन ने छात्रों की बात मान लेना ही श्रेयस्कर समझा। प्रदर्शनी में चीन की दीवाल, राज-प्रासाद, ग्रीष्म-प्रसाद आदि से सम्बन्धित कृतियाँ लगी थी। एक न्यूड (महिला) पेटिंग भी थी। वर्ल्ड ट्रेड टॉवर के स्वागत कक्ष में हमें बताया गया था कि द ग्रेट वाल तक आने-जाने और वहाँ रुकने के लिए टैक्सी 800 पुवान लेगी। इन छात्रों ने हमें तिआनान मेन चौक तक पहुँचाने और वहाँ सरकारी पर्यटन केन्द्र में चीन की दीवाल तक जाने के लिए बुकिंग करा देने का दायित्व ले लिया। एक लड़का हम लोगों के साथ टैक्सी में बैठ कर तिआनानमेन चौक तक गया। वहीं पर्यटन केन्द्र पर दूसरे दिन चीन की दीवाल तक के लिए उसने वातानुकूलित मिनी बस में जाने की 200 युवान प्रतिव्यक्ति के हिसाब से बुकिंग करा दी। इसमें लंच, दीवाल के अतिरिक्त मिंग सम्राटों के मकबरे, स्फटिक-मणि से बननेवाले आभूषणों के एक कारखाने और चीनी-औषधि के एक शोध केन्द्र तथा अस्पताल को भी देखने की व्यवस्था थी।

उसके बाद हम तिआनानमेन चौक के विशाल मैदान (दिल्ली के बोट क्लब जैसा) में घूमते रहे। मैदान देशी-विदेशी सैलानियों से भरा पड़ा था। इस विशाल मैदान के दक्षिणी किनारे पर चीनी सम्राटों के समय का करीब छः सौ वर्ष पुराना राजकीय प्रासाद (फारबिडेन सिटी), उत्तरी छोर पर माओ का स्मारक, चीन के नायकों की स्मृति में बना स्तंभ, 4 मई, 1999 के छात्र-बुद्धिजीवी आन्दोलन की स्मृति में अभियान वाले युवकों के समूह का प्रस्तर स्मारक (उसी तर्ज पर सरदार पटेल मार्ग-कौटिल्य मार्ग के साथ दिल्ली में बना स्मारक है), पश्चिमी छोर पर राष्ट्रीय संग्रहालय और पूर्वी छोर पर *हाल ऑफ द पीपुल* (चीनी संसद) का भवन है। चीन के विभिन्न हिस्सों से आए युवक, युवतियों और छात्रों ने बीच-बीच में हमसे बात करने की चेष्टा की। शाम 6

बजे के लगभग हम अपने होटल वापस लौट आए। अपार्टमेंट में जाने से पहले हमने होटल के परिसर में स्थित माल में जाकर नाश्ते के लिए ब्रेड, मक्खन और स्वतः बनाए हुए शाकाहारी भोजन के लिए आवश्यक भोज्य पदार्थ खरीदा। रसोईघर में अति आधुनिक सारी व्यवस्था थी। खाना खाने के बाद होटल की लाँवी से लाए गए चीन की सरकार के अंग्रेजी दैनिक 'चायना डेली' को पढ़ता और टी.वी. देखता रहा। पर्यटन केन्द्र से गाइड का फोन आया कि कल सुबह 7.30 बजे आप लोग तैयार रहिएगा। मिनी बस वहाँ से आप लोगों को ले लेगी।

29 जुलाई, 2007

ठीक 7.30 बजे हम लोग खूबसूरत, ए.सी. मिनी बस में चीन की महान दीवाल तक जाने के लिए सवार हुए। बस अन्य पर्यटकों को लेने के लिए एक होटल से दूसरे होटल तक भागती रही। अन्त में, बस की ग्यारह सीटें भर गईं। पर्यटकों में दो जर्मन, एक कनाडियन, एक आस्ट्रेलियन, एक थाई और अपने बच्चों के साथ अमेरिका में रहनेवाले एक चीनी दम्पति थे। 'द ग्रेट वाल' तिआनानमेन चौक से 70 किलोमीटर दूर बेजिंग से उत्तर पूर्व दिशा की ओर है। बेजिंग के पास की दीवाल का हिस्सा जिसे बदालिन कहते हैं, वह आज विश्व का एक प्रमुख पर्यटन स्थल बन चुका है। बेजिंग के पास दीवाल से जुड़े दो अन्य पर्यटन स्थल भी हैं। उनमें से एक की दूरी सौ किलोमीटर से कुछ अधिक है। गाइड हाथ में लिए छोटे से ध्वनि विस्तारक से दीवाल और चीन के इतिहास के विषय में अंग्रेजी में हमें बताती रही। मुख्य भव्य सड़क को छोड़कर जब हम नगर के अन्दर की दिशा की ओर जानेवाली सड़क पर मुड़े तो मैंने अनुभव किया कि बाई ओर तो अधिकतर चीनी शैली में बने होटल और विशाल भवन हैं जबकि दाई ओर चीन की पुरानी शैली के छोटे मकान (होतांग), शटरनुमा दुकाने, साइकिल, वैटरी संचालित साइकिल, पुरानी मोपड चलाते लोग दिखाई पड़े। पहली नजर में बेजिंग के इस भाग को देखने पर मुझे ऐसा लगा कि सम्भवतः इसकी तुलना में गुआंगझाउ के पुराने इलाके अधिक विकसित और आधुनिक हैं। नगर से बाहर निकलते ही बदालिन की दीवाल तक जानेवाला एक्सप्रेस वे आरम्भ हो गया। गाइड ने हमें दाहिनी ओर इंगित कर बताया कि अगले वर्ष होने वाले ओलम्पिक का करीब पूरा हो चुका यह स्टेडियम है जिसे अंग्रेजी में 'बर्डनेस्ट' कहते हैं। हमारी बस की खिड़की से विशाल स्टेडियम दिखाई पड़ रहा था। ओलम्पिक के लिए निर्धारित इस इलाके में बड़ी ही गहमा-गहमी थी। चारों ओर विशाल क्रेन दिखाई पड़ रहे थे। ओलम्पिक गाँव का निर्माण कार्य तेजी से चल रहा था। भूमि समतल की जा रही थी। सुघड़, सौन्दर्य मय पद्धति के साथ फूल, पौधे लगाए जा रहे थे। उन पर पानी का छिड़काव चल रहा था। अत्यन्त आधुनिक एक्सप्रेस-वे पर हमारी बस भागती रही।

आगे बढ़ने पर स्फटिक (जेड) के पहाड़ थे जिनकी तलहटी में स्फटिक के आभूषणों और साज-सज्जा के सामानों के निर्माण और बिक्री का कारखाना था। वहाँ पर हमसे पहले पहुँची पचासों बसें और दर्जनों कारें खड़ी थीं। हम लोग वहाँ थोड़ी देर के लिए रुके। वहाँ से चल कर गाँवों, मनोरंजन स्थलों, पापलर के वृक्षों से आच्छादित सड़कों, मक्का के लहलहाते पौधों से भरे खेतों को पार कर मिंग-सम्राटों का मकबरा स्थल देखने गए। चीनी शैली में बना भवन-निर्माण और स्थापत्य की दृष्टि से कई आँगनों-परिसरों में फैला मकबरा स्थल अद्भुत है। उसका रख-रखाव भव्य है।

हमारे दोपहर के भोजन का प्रबन्ध एक विशाल रेस्त्रॉ में किया गया था जिसमें कम से कम पाँच सौ लोग एक साथ भोजन कर रहे थे। रेस्त्रॉ का रख रखाव, स्वच्छता कर्मचारियों की तत्परता प्रशंसनीय थी। टेबुल पर बैठते ही बिना दूध चीनी की चाय आ गई। उस भीड़भाड़ के बीच भी 5-7 मिनट में गरमा-गरम भोजन आ गया। हम लोगों के लिए शाकाहारी भोजन का आदेश गाइड ने दे रक्खा था अतः हमें शाकाहारी खाना भी मिल गया। दिन के 12 बजे तक 20 हजार से अधिक पर्यटक दीवाल के ऊपर चढ़ना आरम्भ कर चुके थे। गाइड ने बताया कि बसों और कारों की वहाँ पर इतनी भीड़ है कि हमें अपनी बस करीब एक किलोमीटर पहले ही रोकनी पड़ सकती है।

वदालिन की दीवाल के पास की भीड़ अपार थी। ट्रेन और इस्केलेटर से हम लोग वहाँ तक गए, जहाँ से लोग पैदल ऊपर चढ़ना आरम्भ करते हैं। पहाड़ों के ऊपर से होकर 6900 किलामीटर लम्बी चीन की दीवाल के करीब 1500 वर्षों तक चलनेवाले निर्माण-कार्य में कई राजवंशों का योगदान है। अब केवल दीवाल का दस प्रतिशत भाग ही बचा हुआ है। वदालिन के पास दीवाल की सबसे ऊँची सुरक्षा-चौकी तक चढ़ने में जो लोग सफल हो जाएँ, माओ के अनुसार शारीरिक क्षमता और धैर्य की दृष्टि से वे वास्तविक नायक हैं। अपने रक्त-चाप को देखते हुए हम दोनों पति-पत्नी थोड़ी देर तक ऊपर चढ़ने, गाइड के साथ फोटो खिंचवाने के बाद नीचे उतर आए। हम लोगों की बस का युवा-कनाडियन नीचे से लेकर सबसे ऊपर की चौकी तक पैदल ही चढ़ गया था। नीचे पर्यटन संबंधी सामानों के अनेक बिक्री स्थल और दुकानें थी। उनमें घूम फिर कर हम लोग समय काटते रहे। दीवाल तक जाने से पूर्व ग्रामीण अंचल में अवस्थित चीनी औषधि के एक शोध केन्द्र और अस्पताल दिखाने के लिए भी गाइड हमें ले गई।

जुलाई मास की गरमी और ऊमस के बाद भी ठण्डी हवा चल रही थी। हमारी मिनी बस तेजी से सुरम्य वदालियन एक्सप्रेस वे पर बेजिंग की ओर भागती रही। पीछे और बाईं ओर पहाड़ियाँ फैली थीं। विशाल स्तर पर चलनेवाले निर्माण-कार्य और कारखानों के कारण बेजिंग का परिवेश कुहासे नुमा 'स्मॉग' से सर्वदा आच्छादित रहता है। चीन की दीवाल गैर-हान बर्बर विदेशी आक्रमणकारियों से रक्षा के लिए बनाई गई

थी। इसके बाद भी मंगोलों और मंचुओं ने चीन पर आधिपत्य स्थापित कर, लम्बे समय तक वहाँ राज किया था। फिर भी चीनी राजवंशों की स्वदेश निष्ठा, चीन के सुरक्षा की चिन्ता और उनका दृढ़ निश्चय मन को कही छूता है। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी आज माओ के रास्ते से विमुख है। आधिकारिक तौर पर माओ के नीतियों की पार्टी द्वारा उनकी मृत्यु के बाद आलोचना हुई है। लेकिन चीन में पुराने सम्राटों की भाँति आज भी माओ के चित्र और प्रतिमाएँ सर्वत्र विराजमान हैं। इसकी एक झाँकी हमें कल राजकीय प्रासाद संग्रहालय (फारबिडेन सिटी) की दीवाल और आज मिंग सम्राटों के मकबरे के पास एक पेड़ के नीचे स्थित माओ की प्रतिमा, दीवाल के नीचे अंकित उनके उद्गार और औषधि शोध केन्द्र में लगे उनके बड़े चित्रों में दिखाई पड़ी। दिन भर की यात्रा से हम थक चुके थे। अपने अपार्टमेंट में लौट कर टी.वी. देखते रहे, भोजन किया और सो गए।

30 जुलाई, 2007

सुबह तैयार हुआ। वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर से बाहर आते ही बेजिंग के प्रतिष्ठित केन्द्रीय वाणिज्य क्षेत्र की आधुनिक सुसज्जित सड़क है। चीन के नगरों में यातायात के सार्वजनिक साधन अति आधुनिक और विश्वस्तरीय हैं। बेजिंग के अन्दर एयर कंडीशंड बसों का भाड़ा प्रायः एक युआन (उस समय करीब छः रुपया के बराबर) है। आज का मेरा कार्यक्रम राजप्रसाद संग्रहालय (फारबिडेन सिटी) देखने का था। बस लिया और त्रिआनानमेन चौक पर उतर गया। संग्रहालय के भीतर-बाहर देशी-विदेशी पर्यटकों की अपार भीड़ थी। चौदहवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी के आरम्भिक दशक तक यह राजप्रसाद मिंग और चिंग (मंचू) राजवंशों की सत्ता का वैसा ही केन्द्र था जैसा लोदियों और अकबर के समय आगरे का किला और शाहजहाँ तथा उसके बाद दिल्ली का लाल किला भारत में राजसत्ता का केन्द्र था। मध्ययुगीन बेजिंग और दिल्ली के नगर नियोजन में बड़ी समानता है। सुरक्षा की दृष्टि से दोनों नगर चतुर्दिक दीवाल से घिरे थे। बेजिंग के इस राजप्रसाद में पाँच विशाल प्रांगण हैं जिनके अन्तर्गत 999.5 कमरे हैं। आज यह विश्व के विशालतम संग्रहालयों में से एक है जिसमें चीन के स्वर्ण काल की संस्कृति, इतिहास और कला की अद्भुत निधियाँ संकलित हैं। मिंग और चिंग राजवंशों के स्वर्ण-काल में 9000 से ऊपर किन्नर और सेवक राज-परिवार की सेवा में यहाँ सन्नद्ध थे। सम्राटों की हजारों रानियाँ, पटरानियाँ और रक्षिताएँ थी जो इन कक्षों में निवास करती थीं। राज प्रसाद की बाहरी दीवाल पर मुख्य द्वार के बगल में माओ का विशाल चित्र लगा है। चित्र के एक ओर चीनी में 'चीन का महान जनवादी गणतन्त्र चिरंजीवी हो', लिखा है। महल के सुरक्षा गार्ड युवा चुस्त-दुरुस्त, सर्वदा सावधान की मुद्रा में दिखाई पड़ते हैं। मुख्य द्वार से घुसते ही एक लड़की ने इस

निवेदन के साथ पकड़ लिया कि चल कर हम उसकी चित्रकला की प्रदर्शनी देख लें। चीन बेजिंग के पर्यटन स्थलों पर चित्रकला की प्रदर्शनी आम बात है। अनिच्छा के बाद भी सौजन्य वश मुझे जाना पड़ा। तीन प्रांगणों तक घूम कर मैं संग्रहालय के विभिन्न दृश्यों को देखता और फोटो खींचता रहा। सन् 1911 की गणतान्त्रिक क्रान्ति के बाद भी अन्तिम चिंग सम्राट पु यि का सन् 1925 तक यह प्रासाद निवास स्थान बना रहा था। उस समय तक इसमें 1600 किन्नर सेवक कार्यरत थे।

बाहर निकला तो बूँदाबादी आरम्भ हो गई। छाता ओढ़ कर तिआनानमेन मैदान के एक ओर स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय, दूसरे ओर स्थित हाल ऑफ द पीपुल (संसद भवन), माओ के समाधि-स्थल, तथा अन्य स्मारकों तक चहल कदमी करता और फोटो लेता रहा। राष्ट्रीय संग्रहालय के सामने ओलम्पिक के शेष बचे वर्ष, मास, दिन बतानेवाली घड़ी लगा दी गई है। उसकी भी फोटो लिया। अंग्रेजी में बातचीत करने के लिए एक लड़की ने रोका। वर्षा से बचने के लिए अपने माता-पिता से अलग हट कर 10-11 साल की एक लड़की मेरे छाता में चली आई। थक गया था। बस लिया और वापस लौट आया। सड़क के नीचे बने आन्तरिक पथ से गुजरते हुए देखा कि उसमें अनेक भिखारी भीख माँग रहे थे। ऊपर आने पर अनेक लड़कों ने मुझे घड़ी, मोजा, कलम बेचने के लिए रोका।

चीन में विदेशी पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री और विदेशी टी.वी. चैनलों पर रोक है। पाँच सितारा होटलों और राजनयिकों के घरों में इस पर प्रतिबन्ध नहीं है। अपने अपार्टमेंट में देर तक बी.वी.सी., सी.एन.एन, डी.डब्ल्यू. टी.वी के प्रसारणों को देखता और होटल की लॉबी से प्राप्त चीन के अंग्रेजी दैनिक 'चाइना डेली' के पन्नों को पलटत रहा।

31 जुलाई, 2007

नाश्ता करने के बाद होटल से बाहर निकला। आज मेरा कार्यक्रम ग्रीष्म-प्रासाद जाने का था। टैक्सी से जाने में एक ओर का भाड़ा 100 युआन (करीब 600 रुपए) से अधिक लगता। ग्रीष्म-प्रासाद बेजिंग के बाहर नगर के मध्यवर्ती भाग से काफी दूर है। कल तिआनानमेन चौक पर ही वहाँ तक पहुँचने के माध्यम का मैं पता लगा चुका था। शीत-ताप नियन्त्रित बस से यात्रा करने के लिए 1 और 2 पुवान के नोटों की आवश्यकता पड़ती है जिसे इलेक्ट्रॉनिक संचालित बॉक्स में छोड़ा जा सके। सामने के माल के स्टारबॉक्स कॉफी हाउस के काउंटर की लड़की से 100 युआन का नोट दिखा कर फुटकर के लिए इशारा किया। उसने फुटकर नोटों की व्यवस्था कर दी। मुख्य सड़क पर आकर बस पकड़ा और तिआनानमेन चौक पहुँचा। नीचे तल वाली लम्बी आधुनिक शीत-ताप नियन्त्रित बसें चीन की सड़कों पर बहुतायत-सी हैं। उनके

दरवाजे बस के ठिकाने पर स्वयं खुलते और बन्द हो जाते हैं। जिस बस से मुझे जाना था, वह चल चुकी थी, उसके दरवाजे बन्द हो चुके थे, लेकिन ग्रीष्म-प्रासाद के फोटो वाले ब्रोशर को जब मैंने जल्दी से झाड़वर को दिखाया तो उसने वरिष्ठ विदेशी नागरिक के प्रति शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए दरवाजा खोल दिया। बस में बैठते ही मैंने देखा कि तिआनानमेन चौक के विशाल मैदान में सेना की टुकड़ियाँ सैन्य वाहनों से तेजी से उतर रहीं हैं। बस में से ही, थोड़ी शंका के साथ कोई टोक न दे, मैंने उनकी फोटो खींचीं। शाम को होटल लौटने पर टी.वी. देखने से ज्ञात हुआ कि आज जन मुक्ति सेना की स्थापना की 80वीं वर्षगाँठ थी। उक्त अवसर पर उस विशाल मैदान में परेड और विशाल मंच पर अत्यन्त भव्य रंगारंग कार्यक्रम का आयोजन हुआ था, जहाँ चीन का पूरा उच्च पदस्थ नेतृत्व उपस्थित था। लेकिन सामान्य आवागमन पर किसी तरह की रोकटोक का मुझे अनुभव नहीं हुआ। बेजिंग ओलम्पिक अभी ठीक एक वर्ष बाद आयोजित होने वाला था। लेकिन बस से मुझे दिखाई पड़ा कि मुख्य स्थान और चौराहे धीरे-धीरे ओलम्पिक के पोस्टरों, कलात्मक बिलबोर्डों से पटते जा रहे थे। बस बेजिंग के पुराने इलाकों से होकर गुजर रही थी। पुराने 'हुतांग' शैली के मकानों और दुकानों की इन इलाकों में बहुतायत थी। कुछ गलियाँ बहुत ही सँकरी दिखाई पड़ रही थीं। ओलम्पिक के पूर्व की तैयारी के फलस्वरूप फुटपाथ तोड़े जा रहे थे और उनकी मरम्मत हो रही थी।

एक घण्टे की बस-यात्रा के बाद मैं नया-ग्रीष्म प्रासाद पहुँचा। यहाँ से थोड़ी दूर पर अवस्थित पुराने ग्रीष्म प्रासाद को सन् 1860 में बेजिंग पर आक्रमण कर अंग्रेजी और फ्रांसीसी सेनाओं की संयुक्त कमान ने पूरी तौर पर जला दिया था। उसके कीमती सामानों को लूट लिया था। चीन आज भी उन लूटे सामानों की वापसी की वैसी ही माँग करता रहता है जैसी माँग भारत कोहिनूर हीरा, टीपू की तलवार और लन्दन-पेरिस के संग्रहालयों में पड़ी भारत की विरासत से सम्बन्धित सामग्री को लेकर करता है। इस नए ग्रीष्म प्रासाद को नौसेना के बजट से पैसा काट कर रीजेंट-सम्राज्ञी तावगेर चिशि ने उन्नीसवीं सदी के अर्द्धांश में बनवाया था। सम्राज्ञी चिशि पुरुष भेषभूषा धारण करती थीं और वे अपने को जीवित बुद्ध के रूप में प्रस्तुत करती थीं। पतनोन्मुख चिंग राजवंश में चिशि का बड़ा रोबदाब था। प्रवेश टिकट (30 युआन) और प्रासाद सम्बन्धी विवरण-पुस्तिका (10 युआन) खरीद कर प्रवेश के लिए बने तीन द्वारों में से पर्यटक वाले द्वार से प्रासाद के विशाल परिसर में प्रवेश किया। चीनी राजकीय-शिष्टाचार के अन्तर्गत एक द्वार सम्राट-समाग्री, दूसरा द्वार राज परिवार के सदस्यों, उच्च अधिकारियों और तीसरा द्वार सामान्य लोगों के लिए सुरक्षित रहता था। प्रासाद के राजपथों, फूल पत्तियों, वृक्षों की आकर्षक पंक्ति, विशाल कृत्रिम कुनमिंग (बर्मा से सटे युन्नान प्रान्त की राजधानी के नाम पर) झील, उनमें पर्यटकों को लेकर चलती सैकड़ों नौकाओं, मोटर बोटों का दृश्य और रख-रखाव आकर्षक है। झील के

एक ओर पत्थर से निर्मित पानी वाले जहाज की विशाल अनुकृति है जो नौसेना के मद से किए गए व्यय की स्मृति स्वरूप है। भारत के राजप्रासादों की तुलना में सम्राट-सम्राज्ञी वाले भवन और शयन कक्ष मुझे अत्यन्त साधारण लगे। लौटते समय बस में 6-7 वर्ष की एक छोटी बच्ची जो थोड़ी बहुत अंग्रेजी जानती थी, वह अपने पिता के माध्यम से मेरे देश का नाम जानना चाहती थी। उसके पिता ने उसे 'इंडु' बताया। चीन में भारत 'इंडु' नाम से जाना जाता है। एक निवर्तमान वृद्ध, जो बेटे-बहू के साथ रहते थे, सरकारी नौकरी में रह चुके थे थोड़ी अंग्रेजी जानते थे, अपनी दिन-चर्या के विषय में बात करते रहे।

होटल के पास वाले बस स्टैण्ड के पास विश्वविद्यालय में पढ़नेवाली एक लड़की ने आज फिर चित्रकला की प्रदर्शनी देखने का आग्रह किया। विक्री की दृष्टि से जहाँ विदेशी पर्यटक आते हैं, अथवा जहाँ टिकते हैं, वहाँ लगता है कि बेजिंग में चित्रकला की ऐसी प्रदर्शनी लगाना आम बात है। मैं बहुत थक गया था, अतः मैंने अपनी असमर्थता व्यक्त की। उसके बार-बार यह कहने पर कि पेटिंग्स को खरीदना आवश्यक नहीं है, आप चल कर एक बार देख लें तो मैं एक कक्ष में लगी प्रदर्शनी देखने गया। वहाँ एक अर्धेड़ वरिष्ठ चित्रकार भी थे। यह प्रदर्शनी भी दूसरी अन्य प्रदर्शनियों जैसी ही थी। मैंने अधिक रुचि उस लड़की द्वारा बनाई गई कलाकृतियों में ही ली। चलते समय उसने मुझे अपनी एक कलाकृति भेंट करने का आग्रह किया। उसकी कीमत 100 युवान अंकित थी। मैंने नम्रता पूर्वक अस्वीकार करते हुए कहा कि इसे रक्खो, बिकने पर तुम्हें इसके पैसे मिलेंगे। उसके आग्रह को देखते हुए मैंने उसे साभार स्वीकार किया। उसकी फोटो ली, वरिष्ठ कलाकार से छुट्टी ली और बाहर आ गया। सामान्य चीनी जन की सहृदयता के ऐसे अनेक उदाहरण मेरे मन-वीथी में समाए हुए हैं।

होटल वापस आकर एक बार फिर बाहर निकला। हल्की वर्षा आरम्भ हो गई थी। चीन के सिल्क पथ की चर्चा सारी दुनिया में होती है। उसके आधार पर चीनी सरकार ने सिल्क-पथ विपणन केन्द्र स्थापित कर रक्खा है। उसे देखना भी हमारे कार्यक्रम का हिस्सा था। एक सज्जन से उसके विषय में पूछा। वे बड़ी ही गर्मजोशी से मिले। मेरे देश के विषय में उन्होंने पूछा, फिर अंग्रेजी में कहा कि 'वेलकम टु बेजिंग'। बेजिंग आप को कैसा लगा। मेरे सकारात्मक उत्तर से उनके चेहरे पर प्रफुल्लता भरी मुस्कान उभर आई। सड़क पार के एक भवन को इंगित करते हुए कहा कि सिल्क रोड शापिंग केन्द्र सामने है। छः मंजिलवाला इस शापिंग केन्द्र में प्रायः 600 दुकाने हैं। यह केन्द्र सभी रंगों वाले विदेशी पर्यटकों की चहल कदमी, खरीद-फरोख्त और खाने-पीने की जगह का एक भीड़भरा अद्भुत केन्द्र है। हर दुकान में काम करनेवाली एक-दो लड़कियाँ अंग्रेजी बोल लेती हैं। विदेशी गोरे पर्यटकों से उनकी चुहल और सामानों का मोलभाव मुक्त मन से चलता रहता है। चीन में सामान खरीदते

समय मोलभाव मुक्त मन से चलता रहता है। चीन में सामान खरीदते समय मोलभाव की कला में पारंगत होना अनिवार्य है। 500 युवान का सामान मोलभाव की आनन्ददायक प्रक्रिया से गुजरते हुए 80 से लेकर 100 युवान में मिल सकता है।

रात में तेज बारिश होती रही। आकाशीय बिजली तेज गति से चमकती और घनघोर ढंग से कड़कती रही। बादलों की गरज दिल दहला देनेवाली थी। जहाँ तक मैं याद कर पाता हूँ बादलों की ऐसी गरज का मुझे आज तक अनुभव नहीं हुआ था। कल 12 बजे की उड़ान से हम लोगों को शंघाई जाना है, अतः जल्दी सो गए।

अगस्त 1, 2007

सुबह हम लोग जल्दी तैयार हो गए। आज शंघाई जाना है। होटल के अपने कमरे में बैठ कर डायरी लिख रहा हूँ। बेजिंग यात्रा के अनगिनत प्रभाव मन पर अंकित हैं। बेजिंग के आधुनिक हिस्से की सड़कों, यातायात, स्वच्छता, मूलभूत ढांचे, बिजली-पानी की आपूर्ति, सड़क के किनारे लगे फूल, पौधों, पेड़ों की कलात्मक रख-रखाव, वास्तुकला की उत्तर-आधुनिक डिजाइनों की दृष्टि से बेजिंग एक विश्व स्तरीय, करीब पौने दो करोड़ की आबादी वाला नगर है। ओलम्पिक पूर्व के बेजिंग में आधुनिकता और पुरातनता का अद्भुत मिश्रण दिखाई पड़ता है। एक ओर उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी यूरोप के स्तर का नगरीय परिवेश है, दूसरी ओर टूटे फुटपाथों, सँकरी गलियों वाले कुछ हिस्से पूर्वी दिल्ली के शकरपुर और मध्य दिल्ली के दरियागंज जैसे भी दिखाई पड़ते हैं। ओलम्पिक के कारण पूरे चीन और विशेष कर बेजिंग को दुलहिन की तरह सजाने-सँवारने की व्यापक तैयारी चल रही है। डायरी के इन पन्नों को भरते हुए बेजिंग-यात्रा, द ग्रेट वॉल, तिनानानमेन चौक में मिले युवा-वृंद, खूबसूरत सड़कों पर पैदल चलने के अनुभव, बसों की यात्रा, सामान्य चीनी जन की सहृदयता, फारबिडेन सिटी, समर पैलेस, मिंग सम्राटों के मकबरे, वर्ल्ड ट्रेड टावर के होटल के 6 डी सुइट में वित्ताई चार रातों के विभिन्न चित्र दृष्टि पटल पर छाए हुए हैं।

चीन में आर्थिक और मूलभूत ढाँचे के क्षेत्र में अकल्पनीय प्रगति हुई है। इस प्रगति का प्रभाव मुख्यरूप से पूर्वी चीन के समुद्र तटीय क्षेत्रों और हान नृजातिक समूह के जीवनसार के सुधार में दिखाई पड़ता है। नगरों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्र आज भी पिछड़े हैं। करीब 20 करोड़ आप्रवासी श्रमिक जीविका के साधनों की तलाश में ग्रामीण क्षेत्रों से पलायन कर नगरों में अवैध रूप से आकर रहने के लिए बाध्य हुए हैं। चीन का विशाल पश्चिमी भाग, जनजातीय इलाके और अल्पसंख्यक समुदाय आज भी एशिया के अन्य देशों की तरह ही पिछड़े रह गए हैं। साम्यवादी देश होते हुए भी चीन बाजारवादी-पूँजीवादी रास्ते पर चल रहा है। माओ कालीन क्रूर तानाशाही, वर्ग-शत्रुओं और विरोधियों के नर-संहार से चीनी जनता का पिण्ड छूट चुका है।

कम्युनिस्ट पार्टी के एक दलीय शासन के बाद भी चीन में आज पहले की तुलना में अधिक उदारता है। राजकीय परिवर्तन की प्रक्रिया आज अधिक संस्थागत है। मानव-अधिकारों के हनन के सवाल पर अमेरिका, यूरोप में चीन की आलोचना होती रहती है फिर भी इन देशों से चीन के सम्बन्ध सामान्य हैं। चीन अपने पड़ोसियों जैसे जापान, दक्षिण कोरिया, रूस, वियतनाम, आसियान और सुदूर अफ्रीकी देशों से अपने सम्बन्ध को मधुर बनाने की हर चेष्टा कर रहा है। चीन के सम्मुख आज मुख्य आन्तरिक चुनौती बढ़ती सामाजिक, आर्थिक, क्षेत्रीय असमानता और तज्जनित बढ़ता सामाजिक तनाव है जिसकी प्रतिध्वनि नियन्त्रित चीनी मीडिया में भी होती रहती है। हर चेष्टा के बाद भी चीन अभी तक ताइवान की स्वतन्त्र सत्ता, सिनजियांग के मुस्लिम विद्रोह, तिब्बत के असन्तोष और उससे जुड़ी विश्व-स्तर पर दलाई लामा की अतुलनीय प्रतिष्ठा की काट नहीं ढूँढ़ पाया है। चीनी मीडिया के अवलोकन से ऐसा लगता है कि पहले की तुलना में भारत के प्रति चीन की दुर्भावना (सन् 2007 की परिस्थितियों में) प्रत्यक्ष तौर पर कम हुई है। चीन के सामान्य नागरिक के बीच चीन की उपलब्धियों को लेकर गौरव-बोध है और ऐसा लगता है कि बहुसंख्यक हान नृजातिक समुदाय के मन में चीन की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था को लेकर न केवल सन्तोष बल्कि श्रेष्ठता का भी भाव है।

सुबह के 9 बज चुके हैं। बाहर बूँदाबाँदी हो रही है। अपने कमरे से हम लोग बाहर आते हैं। स्वागत-डेस्क पर आवश्यक औपचारिकताओं को पूरा करते हैं। वर्ल्ड ट्रेड टॉवर को अलविदा कहते हैं। टैक्सी पकड़ कर बेजिंग हवाई अड्डा के टर्मिनल-2 पर पहुँचते हैं और शंघाई जानेवाले हवाई जहाज की बेजिंग की मन में समाई अनेक स्मृतियों के बीच प्रतीक्षा करते हैं।

असमीया साहित्य में जनजातीय लेखकों की देन

अदिति सैकिया*

भारत के पूर्वोत्तर में अवस्थित असम जनजाति प्रधान प्रदेश है। इसका अधिकांश भू-भाग पहाड़ी है। त्रिपुरा, नागालैण्ड, मिजोरम, मेघालय, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश अपने अस्तित्व में आने से पूर्व अविभाजित असम के अंग थे। यद्यपि कुछ साल पहले राजनीतिक रूप से ये प्रदेश असम से अलग हो गए फिर भी इनमें कई प्रदेशों के जनजातीय लेखकों ने असमीया भाषा-साहित्य के लिए अनेक योगदान दिया है। इन लेखकों ने असमीया साहित्य को जितनी रचनाएँ दीं और असमीया साहित्य को समृद्ध बनाया। उनके इस योगदान को भुलाया नहीं जा सकेगा। वे लोग आज भी असमीया साहित्य की निरन्तर श्रीवृद्धि के लिए कार्यरत हैं।

पहाड़ियों से घिरा हुआ वर्तमान असम में विशेष रूप से बड़ो, राभा, दिमासा, लालुङ या तिवा, तिपरा, सोनोवाल कछारी, मिकिर या कार्वि, मिरि या मिशिङ और देउरी चुतीया आदि अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनकी अपनी-अपनी भाषा, संस्कृति, अपने-अपने रीति-रिवाज हैं। फिर भी असम के निवासी तथा असमिया जन कहने पर जन-जातियों समेत सभी वर्गों के लोग उसमें आ जाते हैं। असम के महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेव ने भी अपने अनुदित ग्रन्थ भागवत के द्वितीय स्कन्ध पद में असम के इन जनजातियों का उल्लेख किया है।

उन विभिन्न लोगों के द्वारा भारत के उत्तर-पूर्व में विशाल असमीया जाति का गठन हुआ है। अनेक जातियों तथा जनजातियों का संगम-स्थल असम की प्रमुख भाषा असमीया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि असमीया की प्रगति और विकास में जनजातीय लेखकों का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि असम के जनजातियों की अपनी-अपनी भाषा है लेकिन उसे प्रकाश करने के

* डॉ. अदिति सैकिया, एसोसिएट प्रोफेसर, मनोहारी देवी कनई महिला महाविद्यालय (डिब्रुगढ़) असम, पिन-786001

लिए कोई लिपि नहीं है। उत्तर-पूर्व के जनजाति लोगों ने बहुत दिनों से संयोगी भाषा के रूप में असमीया भाषा का प्रयोग करने के कारण असमीया भाषा का व्यापक प्रचार-प्रसार के साथ-साथ जनजातीय जीवन और उन लोगों के समाज की पृष्ठभूमि में सृष्टिशील साहित्य का उल्लेख योग्य विकास हुआ है। जनजाति के लेखकों की प्रायः रचनाएँ अपनी-अपनी जाति के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्षों पर आधारित है। इन रचनाओं से उन लोगों के समाज के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है।

असम के जनजातियों में बड़ो जनगोष्ठी प्रधान और उल्लेखनीय है। बड़ो भाषा तिब्बत-वर्मी भाषा गोष्ठी के अन्तर्गत आती है। बड़ो जनजातियों के बड़ो, राभा, दिमासा, तिवा, तिपरा, गारो, सोनोवाल, कछारी, मेच, चुतीया, कोच आदि कई उपशाखाएँ हैं। असम में अनेक ऐसे बड़ो जनजाति के लेखक हैं जिन्होंने अपने मौलिक साहित्य और चिन्तन से असमी भाषा और साहित्य पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। इनमें से कलागुरु विष्णु प्रसाद राभा का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने असमीया साहित्य को विकास के शिखर पर पहुँचाने का अथक प्रयास किया। वे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न, स्वतन्त्र चिन्तनशील साहित्यकार हैं। कवि, साहित्यिक, नाट्यकार, संगीतज्ञ, गीतिकार, गायक, अभिनेता, विप्लवी, चित्रकार के साथ-साथ वे असमीया संस्कृति के पोषक भी हैं। आपने अनेक कविताएँ, गीत, निबन्ध, कहानी, नाटक, आदि के लेखन से असमीया साहित्य को समृद्ध किया है। विष्णु प्रसाद राभा जी ने असमीया साहित्य के उत्थान के लिए अपना सारा जीवन ही लगा दिया। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक बहुमुखी प्रतिभा के धनी राभा जी की लेखनी अविराम चलती रही।

इसके बाद असमीया भाषा में साहित्य चर्चा करके विशिष्ट स्थान प्राप्त करने वाले बड़ो लेखकों में **स्वर्गीय रूपनाथ ब्रह्म** (असम के पूर्व मन्त्री), **बन्धुराम कछारी** (पूर्व उपशिक्षाधिकारी), **स्वर्गीय सीतानाथ ब्रह्मचौधुरी** (असम साहित्य सभा के पूर्व सभापति) का नाम उल्लेखनीय है। पहले उल्लेखित दो लेखकों की रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। उनके तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के चटपटे लेखन ने असमीया जनता का हृदय आकर्षित कर लिया था। तीसरे साहित्यकार **सीतानाथ ब्रह्मचौधुरी** की प्रसिद्ध काव्यकृतियाँ हैंकमल कलि, आवेग, फुलेश्वरी दैमारी आदि।

उनके पश्चात् **महेन्द्र बसुमतारी** (आकिंचन), **ब्रजेन्द्र इश्लारी** (अश्रुपूजा), देवेन्द्र चन्द्र गयारी (मन्दाकिनी) **तरुण चन्द्र खाकलारी** (मोर वीण, नवरूपा, असमी आइ), **इन्दिरा हाजोवारी** (शिहरण) **अनिराम बसुमतारी** (असमीया कृष्टि, बड़ो कछारी कृष्टि, समाज और शासन नीति), **मोहिनी मोहन ब्रह्म** (बड़ो लेकगीत, बड़ो छ'ल'), **भवेन नार्जि** (बड़ो कछारी समाज अरू संस्कृति, बड़ो कछारी गीत-मात, बड़ो राउ बड़ो भाषा आदि), **समर ब्रह्म चौधुरी** (जनजातिर तेज किसान रडा) **सुरीति शर्मा ब्रह्मचौधुरी** (गानर, प्रतिमा, प्राणर प्रतिमा) **आशीलाल धीमान** (स्रोत माला, सत्य चिन्ता मनुहार कर्तव्य, सन्ध्या पद्धति) चाणक्य ब्रह्म (बड़ो भाषा शिक्षा) और **अनुपमा बसुमतारी** आदि अनेक अन्य साहित्यकारों की रचनाएँ भी इस समय प्रसिद्ध

हुई। असमीया साहित्य के विकास-क्रम में बड़ो जनजाति के लेखकों में **मेदिनी मोहन चौधुरी** की सशक्त भूमिका रही है। कहानीकार, उपन्यासकार और निबन्धकार के रूप में असमीया साहित्य जगत में परिचित **मेदिनी मोहन चौधुरी** ने 'अनन्य प्रान्तर', 'बन्दुका बेहार', 'इयात नदी आछिल', 'फेरेंगदाउ' शीर्षक उपन्यास लिखे। इनके कारण असमीया उपन्यास विधा को नई दिशा भी मिली। 'इयात नदी आछिल' और 'फेरेंगदाउ' शीर्षक दो उपन्यासों के लिए उन्हें असम प्रकाशन परिषद् और असम साहित्य सभा द्वारा स्वीकृत पुरस्कार भी मिला।

इनके अतिरिक्त शताधिक अन्य जनजाति रचनाकार भी असमीया साहित्य को समृद्ध करने में लगे हुए हैं। इनमें से **राभा जनजाति** के लेखकों ने अपनी कृतियों के माध्यम से अपने समाज को सम्पूर्ण रूप से चित्रित किया है। बिना किसी आवरण के, बिना किसी मोह के तटस्थ भाव से इन लोगों ने अपने समाज के चित्रों को सजीवता प्रदान की है। राभा जनजाति के लेखकों ने अपनी कृतियों के माध्यम से अपने समाज को सम्पूर्ण रूप से चित्रित किया है। इन लेखकों में **राजेन राभा, मणि राभा, धीरेन्द्र कुमार राभा, लिष्टि राभा, राजेन पाम** आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने असमीया साहित्य और संस्कृति को आगे बढ़ाया। **राजेन राभा** ने 'किशल्य' पत्रिका का सम्पादन करने के अलावा विविध विषयों पर निबन्ध भी लिखा है। 'राभा जनजाति' उनका प्रमुख ग्रन्थ है। इनके अलावा **मणि राभा** ने 'राभा समाजर सामाजिक आइन आरू दण्डविधि', 'राभा भाषार फकरा-योजना आरू जटुवा ठाँच', राभा संस्कृतिर धारा, राभा बुरंजीर प्रतिध्वनि, राभा शब्दकोश आदि ग्रन्थ लिखकर असमीया साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। 'राभा समाजर सामाजिक आइन आरू दण्डविधि' नामक ग्रन्थ के लिए गुवाहाटी साहित्य कानन नामक साहित्यानुष्ठान से उन्हें '**रेबानाथ शर्मा**' पुरस्कार भी मिला। इस विकास और समृद्धि को और अधिक विकसित करने में कुछ और लेखकों का हाथ है। उन लेखकों में प्रमुख हैं **अधर राभा** (संक्षिप्त राभा भाषा), **राजेन रंख** (राभा व्याकरण), **लोकेन्द्र राभा** (कोच राभा गीत), **योगेन्द्र बाण्ठो** (राभा जातिर इतिवृत्ति), **अमित कुमार हाटो** (राभा बुरंजी), **राजेन्द्र नाथ राभा** (राभा साहित्यर बुरंजी, राभा जनजातिर लोकसाहित्य; कका राजेन राभा जीवन आरू कृति जानि लऊँ आहा), **राजेन पाम** (काढ़ा नलर मौसरा सुर, जानंजिन, नदीर नाम दुधनै, लिहिरि बनर माजे माजे, रेडनि, मरहा फूल, कुकुर आरू लाखुटि, रडचाय रडिली, प्रतिध्वनि आदि), **प्रवीण राभा** (देव देवी आरू राभा समाज), **शोभारिम राभा** (राभा किंवदन्ती), **मुकुल राभा** (लोक संस्कृतिर सुवास विचारि), **धनंजय राभा** (राभा जनजातिर चमु इतिहास), **सतीश राभा** (टोटीला राभा साधु) **वीरेन राभा** (मारै गीत आरू राभा समाज), **मालिनी देवी राभा** (राभा समाज जीवन आरू परम्परागत लोकगीत, असमीया आरू राभा समाज संस्कृति स्वरूप, राभा साहित्यर बुरंजी, मौसरा सुरर शिल्पी राजेन पाम, राभा आभा आदि), **हरिमोहन सरकार** (राभा समाज आरू संस्कृतिक आभास, तुकुरीया गीत,

बहुरंगी गीतर आँचलत), **उपेन राभा हाकाचाम** (राभा भाषा आरु साहित्य, असमीया आरु असमर तिब्वत बर्मीय भाषा, राभामिज: भाषा आरु निदर्शन), **फणी राय** (जन अरण्यर माजत राभा शारत् चन्द्र), **भावित चन्द्र राभा** (अर्वाचीन प्रतीतिर अभिव्यंजना), **प्रणीता राभा** (समयर उत्तापत अभियात्री, काव्य गाथा) आदि। इन लेखकों ने असमीया साहित्य को निश्चित रूप से समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

असमीया साहित्य की विभिन्न विधाओं को सही दिशा देने में सोनोवाल कछारी जनजाति के लेखकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सोनोवाल कछारी लोगों ने बहुत पहले से ही अपनी भाषा भूलकर असमीया भाषा को ही मातृभाषा के रूप में ग्रहण किया है। सन् 1922 में **स्वर्गीय दण्डीधर सोनोवाल** ने 'चपला' शीर्षक उपन्यास लिखकर असमीया उपन्यास साहित्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है। आगे चलकर असमीया साहित्य में जनजाति उपन्यास की जो लहर आई उसे विकसित करने में **दण्डीधर सोनोवाल** का बहुत बड़ा हाथ है। शायद वे ही असमीया साहित्य के प्रथम जनजातीय उपन्यासकार हैं। इस उपन्यास के अलावा 'युगल मूर्ति', 'नवकलि' शीर्षक रचनाएँ भी उन्होंने किया है। स्वाधीनता से पूर्व कछारी लेखकों में 'नवकलि' शीर्षक रचनाएँ भी उन्होंने किया है। स्वाधीनता से पूर्व कछारी लेखकों में **योगेन्द्रनाथ हाजरिका**, **योगेश दास** आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'डावर आरु नाइ' **योगेश दास** का प्रसिद्ध उपन्यास है। जो आज भी असमीया उपन्यास-क्षेत्र में अपने विशिष्ट स्थान के लिए प्रसिद्ध है। 'जोनाकीर जुइ', निरुपाय निरुपाय, हेजार फूल, छा जुइ खेदि, उत्कण्ड उपकण्ड, नेदेखा जुइर धोवाँ, अवैध आदि रचनाओं के माध्यम से उन्होंने असमीया साहित्य जगत् को अधिक विकसित किया। उनकी अनेक कहानियाँ और समालोचनापरक निबन्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। सन् 1980 में प्रकाशित कहानी संकलन 'पृथिवीर असुख' पर उन्हें साहित्य आकदेमी पुरस्कार भी मिला। एक अन्य कछारी जनजाति के कहानीकार हैं **क्षीरोद शहकीया** जिन्होंने 'आवाहन', 'रामधेनु', और 'आमार प्रतिनिधि', शीर्षक पत्रिकाओं के द्वारा अनेक कहानियाँ लिखकर असमीया साहित्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है।

सोनोवाल कछारी के समाज-संस्कृति तथा हाइडाड गीतों के विषय में अनेक लेखों के जरिए असमीया साहित्य को उचित मार्ग दिखाने का कार्य करनेवाले सोनोवाल लेखकों में **इन्द्रेश्वर सोनोवाल**, **विधान चन्द्र बरा**, **ईश्वर बरुवा**, **हेमन्त सोनोवाल**, **लम्बित शइकीया**, **लभित कुमार शइकीया**, **वेणु बरा**, **जोनाराम हाजरिका**, **नित्या हाजरीका**, **मोहन सोनोवाल**, **बंकिम फाटोवाली**, **गुणेश्वर सोनोवाल**, **ज्योत्सना सोनोवाल** आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

दिमासा जनजाति के लेखकों ने अपने रचनाओं से असमीया साहित्य के विविध विधाओं को विकसित किया है। उन कलमकारों ने साहित्य के माध्यम से अपने समाज का भी चित्रण किया है। दिमासा जनजाति के लेखकों में **जयभद्र हागजेर**, उनकी पत्नी **निरुपमा हागजेर** तथा **जे.एल. थाउसेन** के नाम लिए जा सकते हैं। **निरुपमा हागजेर**

द्वारा लिखित 'दिमासा' शीर्षक दिमासा जनजाति का परिचयमूलक ग्रन्थ असम साहित्य सभा ने प्रकाशित किया है। बाकी लेखकों की रचनाएँ भी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। इनसे असमीया साहित्य की उन्नति होती गई।

असमीया साहित्य को प्रसारित एवं स्थापित करने में **हाजं जनजाति** के लेखकों को विशेष योगदान रहा है। हाजं लोगों की समाज-संस्कृति लोकगीत आदि विषयक लेख-पत्र पत्रिकाओं के द्वारा प्रकाशित करनेवाले लेखकों में **परेश हाजं**, **अपनी हाजं**, **रतन कुमार राय हाजं**, **मतिलाल वर्मण** आदि के नाम आदर से लिए जा सकते हैं। इन लेखकों का लक्ष्य हाजं जनजातियों की जीवन-धारण प्रणाली, रीति-नीति, धर्म आदि का अनावरण करके अभिव्यक्ति का आयाम विस्तार करना ही है।

असम में रहनेवाले **लालुड अथवा तिवा जनजाति** की भी एक अलग भाषा है, जिसे तिवा भाषा कहा जाता है। लेकिन अपनी लिपि नहीं होने के कारण ये लोग भी असमीया भाषा को ही अपनाते हैं। अनेक तिवा जनजाति के लेखकों ने असमीया साहित्य के विकास में विभिन्न रूपों में योगदान दिया है। इनमें **बुद्धिमान बरदलै**, **गणेश सेनापति**, **पद्म पाटर**, **धर्मराज बरदलै**, **नरहरि डेकारजा**, **राजेन्द्र नाथ बरदलै** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने असमीया साहित्य के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। **पद्म पाटर** और **राजेन्द्र नाथ बरदलै**, आधुनिक असमीया कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अलावा **मनेश्वर देउरी** (तिवा समाज, तिवा जनजाति आरु भाषार इतिहास), **महीराम बरदलै** (तिवा मातुली), **मिलेश्वर पाटर** (तिवा संस्कृतिर जिलिडनि), आदि तिवा जनजाति के लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से असमीया साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अनेक पत्र-पत्रिकाओं एवं संग्रहों में इनकी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

देउरी जनजाति लोग भी असमीया भाषा-साहित्य को समृद्ध करने में पीछे नहीं हैं। देउरी चुतीया जनजाति के लेखकों में **भीमबर देउरी**, **डम्बरुधर देउरी**, **मुहि देउरी**, **विपुल देउरी**, **शैलेन्द्र नाथ देउरी** के नाम का उल्लेख कर सकते हैं। **षडानन देउरी** कृत 'देउरी' भाषा साहित्य समाज एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। **डम्बरुधर देउरी** ने 'देउरी संस्कृति' शीर्षक एक समाज संस्कृतिमूलक ग्रन्थ की रचना की है। **विश्वकांत देउरी** की 'देउरी पाठ' पुस्तक भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। इनके अलावा और अनेक हैं; नवीन प्रवीण देउरी जनजाति के लेखक हैं जिनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिलती हैं। वस्तुतः देउरी जनजाति के लेखकों ने भी असमीया भाषा-साहित्य के विकास के लिए विशेष कार्य किया है।

अन्य जनजातियों की तरह **मिशिड लेखकों** ने भी असमी में मौलिक साहित्य की रचना की है। जिनके कारण असमीया साहित्य को विकास का अवसर मिल गया, मिशिड यानी मिरि लोग तिब्वत वर्मी वर्ग के मंगोलीय जनजाति के हैं। ये लोग अरुणाचल प्रदेश के शियांग और लोहित जिले में निवास करते हैं। वर्तमान असम के लक्ष्मीपुर, शिवसागर जोरहाट, दरंग और शोणितपुर जिले में भी मिशिड जनजाति के

लोग निवास करते हैं। मिशिङ जनजाति के लेखकों ने भी असमीया साहित्य को और अधिक आगे बढ़ाने का सराहनीय प्रयत्न किया। उन लेखकों में **तरुण चन्द्र पामेगाम, चक्रभाल काग्युड, भृगुमनि काग्युड, नाहेन्द्र पादुन** आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं।

तरुण चन्द्र पामेगाम ने 'गल्प लेखेरि', 'कविता लेखेरि', 'चकामका', 'नारी, समाजर शेष सीमांत', 'समाजर अभिशाप', 'शिविरर शेष राति', 'पाहार पुरी', 'अग्निगुगर फिरिडति', 'पपीया तरा', 'नुरजाहान', 'चाँद सदागर', 'वनवीर', 'अमृत हरण', 'सेतु', 'पराचित', 'फर्मूला', 'फेहुँजालि', 'संकल्प', 'चोरसन्धि', 'समान्तराल', 'खद्मद्म', 'मिरि समाजर आलेख लेख', 'मिरि जनजातिर साधु', आदि अनेक प्रकार की कहानी, कविता, एकांकिका, नाटक, उपन्यास, मिरि संस्कृति विषयक लेख लिखकर असमीया साहित्य को समृद्ध किया है।

भृगुमनि काग्युड की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं कविता कलि, कविता कुसुम, अनाहुत, मन बननिर जुड आदि। 'अनाहुत' काव्य-ग्रन्थ के लिए सन् 1971 में केन्द्रीय समाज कल्याण और शिक्षा मंत्रालय द्वारा काग्युड को पुरस्कृत किया गया। इनके अलावा मिशिङ कृष्टिर चमु आभास, जनजातिय भाषा समस्या और सम्पादित पुस्तक मिशिङ संस्कृति के आलेख्य आदि अनेक रचनाओं के द्वारा असमीया साहित्य को उन्होंने और अधिक आगे बढ़ाया।

स्वाधीनता के पूर्व **सोणाराम पाक्रांकटकी** ने 'मिरि जातिर बुरंजी' और 'मिरि दोवान' लिखकर असमीया साहित्य की श्रीवृद्धि में बहुत बड़ा योगदान दिया।

असमीया साहित्य को समृद्ध करके विशेष ख्याति प्राप्त करने वाले मिशिङ जनजाति के लेखकों में **नाहेन्द्र पादुन** का विशेष नाम है। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं मिशिङ अइनिःतम्, मिशिङ असमीया पाठ, असमीया संस्कृतिलै जनजातीय बरडनि आदि। 'मोर लगरिया' शीर्षक कविता पुस्तक के लिए सन 1974 में समाज कल्याण तथा शिक्षा मंत्रालय ने उन्हें पुरस्कृत भी किया था। उनके बाद जिन मिशिङ साहित्यकारों ने अपना उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से निभाया, उन लेखकों में **भवेन चन्द्र पेगु** (जीया ढलक भेटिक कोने, एयाउ), **इन्द्रेश्वर पेगु** (मिवु, खेरकटा पारर गान), **गणेश पेगु** (पः पुर, मिशिङ जन साहित्य, मिशिङ संस्कृतिर आँहे-आँहे, अकणिर मिशिङ साधु, सोवनशिरर साधु, आमार देशर अकणिर मिशिङ साधु), **गंगा मोहन मिलि** (दिछाड मुखर एवाटि आपड), **यतीन निपुर** (मिकुचिजिलि, दःमि, पलर देशत, आमं मुकं, दुपर निशार बाँहीत, असम दर्शन, कांकांनर पृथिवीत, तानि आगम, माग्व दुगुनाम) आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं। इनके अलावा **मुहि मिरि, डॉ. नोमल पेगु, डॉ दुर्गेश्वर दलै, टाबु टाइद, रत्नेश्वर पेरमे, टंकेश्वर लई, पुष्प लई, विभीषण पेगु, बसन्त दलै** आदि भी असमीया साहित्य को समृद्ध करने में लगे हुए हैं।

बहु भाषा-भाषियों, जाति-उपजातियों के प्रदेश असम के मध्य **कार्बि यानी मिकिर जनजातियों** का निवास है। इनका जिला आजकल कार्बि आडलाड नाम से जाना जाता है। कार्बि आडलाड जिला असम में एक स्वायत्त जिला है जहाँ पहाड़ी

जनजातियाँ रहती हैं, जिनके कारण असमीया भाषा की व्यापकता और अधिक बढ़ी और असमीया साहित्य की लोकप्रियता में वृद्धि होती गई। कर्बी जनजाति के लेखकों में रडबड तेरां की अपनी अलग पहचान है। वे एक ऐसे प्रतिष्ठित रचनाकार हैं जिन्होंने असमीया भाषा साहित्य के सृजन पर बहुत कार्य किया है। उनकी गणना वरिष्ठ साहित्यकारों में होती है। वर्तमान असम साहित्य सभा के सभापति रडबड तेरां ने असमीया साहित्य की सभी विधाओं को प्रभावित किया है। उनका पहला उपन्यास 'रडमिलिर हाँहि' के लिए असम साहित्य सभा ने उन्हें 'विष्णु राभा' पुरस्कार से सम्मानित किया। इनके अलावा उन्होंने टिकक जुरिर छाखिना, क्रान्तिकालर अश्रु, बन फरिडर गीत, कार्बि साहित्य संस्कृतित एभुमुकि, समन्वय प्रवाह, भगवद् गीता (कार्बि अनुवाद), कार्बि असमीया पाठ, लामताछाप (कार्बि-असमीया अंग्रेजी शब्दकोश) आदि ग्रन्थों से असमीया साहित्य का भण्डार पूर्ण किया। इनकी रचनाओं ने असमीया साहित्य को न केवल समृद्ध किया वरन नए आयाम भी दिए हैं। **डॉ. जयन्त रंषि** ने भी अपनी रचनाओं से असमीया साहित्य की वृद्धि में अपना योगदान दिया है। वे अप्रतिम साहित्यकार के साथ-साथ राजनीतिज्ञ भी हैं। राजनीतिक जीवन एवं साहित्य-जगत् जैसे दो अलग-अलग कूलों को स्पर्श करनेवाला डॉ. रंषि ने एक ओर देश की सेवा की दूसरी ओर 'पुवाते एजाक धनेश', 'नीला पाहारर इतिकथा' आदि उपन्यासों पर कलम चलाकर असमीया साहित्य को एक नया अर्थ एवं ऊँचाई देने का प्रयत्न किया। **लंकाम तेरन** ने 'कार्बि कृष्टिर उत्स', 'अविसम्वादी जननेता' लिखा। **खरसड तेरां** ने भी 'मिकिर जनगोष्ठी' ग्रन्थ के अलावा असमीया और कार्बि भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। मिकिर जनजातियों में और अनेक लेखकों ने असमीया भाषा में साहित्य रचना की है। उन लेखकों में प्रमुख हैं **जयसिड तेरां** (कार्बि लामथे, नाम लाइर हारामु, कार्बि प्रणय गीत, छेमचन इतिर जीवन), **अरुण टेरण** (गल्पर नायक बिचारि) **बरचिड रंफार** (कार्बि आडलडर राजनैतिक इतिहास), **बारेलाड तेरां** (कार्बि चमु इतिहास, स्मृति प्रवाह) आदि। इन कलमकारों ने असमीया साहित्य को और अधिक परिपक्व बनाया। कार्बि आडलड में **चलांगो, प्रतिवेदन, सम्वाद** आदि पत्रिकाओं के द्वारा नवीन प्रवीण लेखक अपनी रचनाओं से असमीया साहित्य की सेवा कर रहे हैं। **'दि आरलेड देली' 'पाहाड़ी दूत' टेकार नकवे** आदि कार्बि भाषा की पत्रिकाएँ भी कार्बि आडलड से प्रकाशित हुई हैं।

इन जनजातियों के अलावा **आदि जनजाति** के लेखकों की भी असमीया साहित्य को अनुपम देन है। आदि जनजाति के विशिष्ट लेखक **लुम्बेर दाय** ने 'पाहारर शिले शिले', 'पृथिवीर हाँहि', 'मन आरु मन', 'कइनार मूल्य', 'उपर महल' आदि उपन्यास लिखकर असमीया उपन्यास साहित्य की अधिक सेवा की। सन् 1969 में 'पृथिवीर हाँहि' उपन्यास के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण और शिक्षा मंत्रालय द्वारा उन्हें पुरस्कृत भी किया गया था।

मनपा जनजाति के जीवन कहानी के आधार पर विशिष्ट लेखक **येचे दरजे ठचि** ने 'चनम' शीर्षक उपन्यास लिखकर असमीया उपन्यास साहित्य को गरिमा प्रदान किया है। इसके अलावा 'लिडझिक', मौन उँठ मुखर हृदय, शव कटा मानुह, कामेड सीमान्तर साधु आदि जैसे उत्तम ग्रन्थ उन्होंने प्रकाशित किए हैं जो उनके द्वारा असमीया साहित्य की समृद्धि का सबल प्रमाण देते हैं।

असमीया साहित्य को समृद्ध करने वालों में **चाय मजदूर जनजाति** के कलमकारों की महत्वपूर्ण भूमिका है। बिना इनके उल्लेख के यह लेख अधूरा ही रहेगा। चाय मजदूर जनगोष्ठियों के लेखकों में **गौर माहातौर** (जाहरी वा कपिला मंगल गीत), **गणेश कुर्मी** (करम परब आरु झुमुर गीत, क्षत्रिय जातिर चमु परिचय) **गाइन्दा उराड** (डमकच), दीलेश्वर ताँती (झुमुर संग्रह), **नारायण घाटोवार** (चाह बनवार सांस्कृतिक जीवनर एभूमुकि), **सुशील कुर्मी** (चाह मजदूर लोकगीत, टुचुगीतर माजे माजे), देउराम ताचा (चाह बनवार माजत प्रचलित साधुकथा), समीर ताँती (युद्ध भूमिर कविता), **सनन्त ताँती** (मड मानुहर अमल उत्सव) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा 'चाह मजदुर', 'सेउजी पात', 'स्मरणिका', 'मादल', आदि पत्र-पत्रिकाओं में अनेक नवीन लेखकों ने आत्मप्रकाश किया है। **दुर्गाचरण ताँती, अविनाश ह'र, दीनेश्वर ताचा, प्रस्लाद ताचा, लोचन कुर्मी, अरुण खेरीया, राणी खेरीया, जगदीश चाह, लक्षण चन्द्र ताँती, रबिलाल ताँती, उद्धव चन्द्र ताचा, माखन बाढ़ै, फुलेश्वर माझी**, आदि लेखकों ने कहानी, निबन्ध, लेख, कविता आदि रचनाओं के जरिए असमीया साहित्य को बहुत बड़ा योगदान दिया है। इसके परिणामस्वरूप असमीया साहित्य का विकास एक निश्चित दिशा में सम्भव हो सका। आजकल असंख्य पाठकों की वृद्धि के साथ अनेकानेक चाय जनजाति के लेखक इस दिशा में उन्मुख हुए हैं।

अविभाजित असम में नागा जनजाति के लेखकों ने भी असमीया भाषा में साहित्य लिखा था। **नागा जनजाति** के लेखक **गोविन्द्र चन्द्र पैरा** और **नेपाली सम्प्रदाय के लेखक हरिप्रसाद गोर्खाराय** आदि के नाम स्मर्तव्य हैं। आज भी वर्तमान असम में रहनेवाले नागा तथा नेपाली सम्प्रदाय के लेखक असमीया साहित्य, संस्कृति आदि अनेक क्षेत्रों में विभिन्न माध्यमों से पूरी ऊर्जा एवं सक्रियता के साथ अपना योगदान दे रहे हैं।

यह सुविदित है कि असमीया साहित्य का सर्वाधिक व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ और सच तो यह है कि जनजातीय वर्ग के लेखकों की रचनाओं के कारण असमीया साहित्य की सभी विधाओं की रचनाओं की संख्या में विस्तार होता चला गया। जनजाति वर्ग के लेखकों के साहित्य से असमीया समाज एवं जीवन को गति मिली। इसने साहित्य को आगे बढ़ाने की नई दिशाएँ दिखाई हैं। ऐसे साहित्य से ही मंगलमय समाज का सृजन हो सकता है।

जनजातीय साहित्य का स्वर वैविध्यपूर्ण है तथा उसका स्वरूप जनजाति वर्ग के लोगों के जीवन के यथार्थ से उभरा है। पिछले कुछ वर्षों में जिस तेजी से जनजाति

वर्ग के लेखकों द्वारा असमीया लेखन हुआ है वह ध्यान देनेवाली बात है। उन लोगों द्वारा सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्यिक वातावरण फैलाकर असमीया साहित्य को समृद्ध किया। आज की तारीख में उन लोगों द्वारा सम्पादित कई लघु पत्र-पत्रिकाएँ नए और पुराने, युवा और प्रतिष्ठित साहित्यकारों की रचनाओं को महत्त्व दे रही हैं। इतना ही नहीं, उन्हें प्रकाशित भी कर रही हैं। विशेषांक भी निकाल रही हैं। यह काम जनजातीय लेखकों का असमीया पाठकवर्ग से परिचय कराने का प्रशंसनीय प्रयास है। अंत में जब हम जनजातीय कलमकारों की रचनाओं को देखते हैं तो हमें स्पष्ट एहसास होता है कि उन लोगों ने बखूबी असमीया साहित्य के प्रवाह को जनमानस के समतल मैदान में उतारकर प्रवाहित किया है। जनजातीय कलमकारों की सूची बड़ी लम्बी है। यहाँ सिर्फ स्थापित प्रमुख रचनाकारों का ही उल्लेख सम्भव है। ध्यातव्य है कि जनजातीय रचनाकारों का लेखन जहाँ कहीं भी हो रहा है, असमीया की मुख्य धारा से उसमें हर तरह के प्रोत्साहन की आवश्यकता है।

सुविदित है कि असमीया साहित्य को और अधिक सौन्दर्य-बोध और नई अर्थवत्ता प्रदान करने में जनजातीय साहित्यकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। असमीया साहित्य को और अधिक प्रतिष्ठित करने में जनजाति वर्ग के लेखकों का योगदान निर्विवाद रहा है।

संदर्भ

1. समीन कलिता, साहित्य अकादेमी बंटा विजयी असमीया, स्टूडेंट्स स्टोर्स, गुवाहाटी, तृतीय संस्करण, 1997।
2. लीला गगै सम्पादित, आधुनिक असमीया साहित्यर परिचय, स्टूडेंट्स एम्परियम, डिब्रुगढ़, द्वितीय संस्करण, 1994।
3. यतीन गोस्वामी, असमीया भाषा और साहित्यर इतिहास, लयाँछि बुक स्टल, पान बाजार, गुवाहाटी-1।
4. नाहेन्द्र पादुन, असमीया संस्कृतिलै जनजातीय बरडनि, लयाँछि बुक स्टल, गुवाहाटी, द्वितीय संस्करण, 1993।
5. होमन बरगोहाई सम्पादित, असमीया साहित्यर बुरंजी, आनन्दराम बरुवा भाषा कला संस्कृति संस्था, अम्बिकागिरि नगर, गुवाहाटी-24 पहला संस्करण, 1993।
6. प्रमोद चन्द्र चट्टाचार्य, असमर जनजाति, लयाँछि बुक स्टल, पान बाजार, गुवाहाटी, दूसरा संस्करण, 1991।
7. डॉ. अजित शङ्कीया, जनजातीय जीवनभित्तिक, असमीया उपन्यास, सारदा प्रकाशन, गुवाहाटी, पहला संस्करण, 2005।
8. हरिनाथ शर्मा दलै, असमीया साहित्यर पूर्ण इतिहास, प्रथम संस्करण, 2000।
9. हेमन्त कुमार शर्मा, असमीया साहित्यत दृष्टिपात, गुवाहाटी, प्रथम संस्करण, 1987।
10. डॉ. मलिनादेवी राभा, राभा साहित्यर बुरंजी, प्रथम खण्ड।

लोककवि सन्त तुकारामजी का लोक-संवाद

तुकाराम दौड*

मराठी भाषा में सबसे महान कवि सन्त तुकाराम थे। उनके साहित्य सम्पादन ने मराठी साहित्य की संस्कृति, कला को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। सारी दुनिया में तुकारामजी का साहित्य लोकप्रिय है। और बाहरी दुनिया को बदलने की उनके साहित्य में क्षमता है और भारतवर्ष में वैष्णव सन्तों की श्रेणी में उनका स्थान अग्रणी है। मराठी के भक्ति साहित्य की विशाल परम्परा में सन्त तुकाराम सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। इस सन्दर्भ में श्रीमती रमेश सेठ कहती हैं : “उनका काव्य भक्ति-बोधामृत की अजस्र प्रवहमान धारा के सदृश्य है। तुकाराम का काव्य ‘तुकाराम गाथा’ के नाम से प्रसिद्ध है।”¹ कि वे इसे ‘पंचम वेद’ की संज्ञा से अभिहित करने में गौरव का अनुभव प्राप्त करते हैं। तुकाराम ने अपनी अधिकांश काव्य-रचना अभंग नामक स्फूट छन्द में की। लोकभाषा में उनका साहित्य समृद्ध है। महाराष्ट्रवासियों एवं भारत देश के लिए ये अभंग अमूल्य और शाश्वत धरोहर हैं। वे छत्रपति शिवाजी महाराज के धार्मिक गुरु भी माने जाते थे। वे भगवान विठ्ठल यानी विठोबा के परम भक्त थे। सन्तों के भक्ति आन्दोलन के माध्यम से तुकारामजी ने लोगों में नई चेतना जागृत की। अभंगगाथा एवं कविताओं से लोकरंजन के साथ मद्यनिषेध, परिवार कल्याण, दहेज जैसी कुरीतियों के प्रति जन-जन को चैतन्य करने में इनकी प्रभावी भूमिका रही है। अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा उन्होंने संसार को चित्रित किया है। सन्त एवं कवि लोकसन्त तुकारामजी ने दूरबीन का काम किया है। ‘अभंगगाथा’ यह मराठी सारस्वत की गीता है। अपनी भाषा सब को प्रिय लगती है। पारम्परिक मीडिया से ग्रामवासियों में नशा, निरक्षरता, अन्धविश्वास, कुपोषण, दहेज आदि सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध सन्तों का साहित्य जागृति पैदा करता है। अभिव्यक्ति की वह धारा ही भजन, कीर्तन, प्रवचन अभंगों में

* माईर एम.आई.टी. पुना द्वारा संचलित एम. आई.टी. जनसंवाद एवं पत्रकारिता महाविद्यालय, लातूर।

प्रतिबिम्बित कर देती है। लोककवि संत तुकाराम प्रभु के भजन एवं गायन पर अपनी

अभिव्यक्ति के द्वारा सारे संसार को चित्रित कर देते हैं। वाणी से वाण वृष्टि सम्भव है। जिस पर बौछारें पड़ती हैं वह दिन-रात व्यथा में रहता है। सन्त कबीर इस सन्दर्भ में कहते हैं कि “मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर। श्रवणद्वार ते संचरै, सालै सकल सरीर।”² सम्भाषण जैसी शक्ति जनसंचार एवं लोकसंवाद के अन्य क्षेत्र में सुलभ नहीं। भाषण रूपी अस्त्र-शस्त्र से महान क्रान्तियों एवं महान कवियों का जन्म हुआ। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में भाषण का सहारा लिया, बुद्ध भगवान, सन्त तुकारामजी ने प्रवचन एवं हरि कीर्तनों से उपकृत किया है। और महाराष्ट्र में बारकरी सम्प्रदाय परम्परा की दृष्टि से सम्मिलित होकर आलन्दी, देहू, पंढरी में परम्परानुसार कथा-कीर्तन प्रवचन सुनने और सुनाने में सम्प्रदाय शुद्ध विचार-पद्धति के अनुसार अभंगों का अध्ययन एवं मनन महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन्तों ने भाषण एवं कथा-कीर्तन, प्रवचन, भजन द्वारा मानवता की सेवा की है। “आम्हा घरी धन शब्दांचीच रत्ने। शब्दांचीच शस्त्रे यत्ने करू। शब्दचि आमुच्या जीवांचे जीवन। शब्दे वाटू धन जन लोकां ॥ तुका म्हणे पहा शब्दचि हा देव। शब्दांचि गौरवे पूजा करू ॥ शब्दांचीच रत्ने करूनी अलंकार। तेने विश्वम्भर पूजियेला ॥³ शब्द यह एक संचार की शक्ति है और स्वर्णमाला का भण्डार है और वाणी द्वारा ही मानव की शिक्षा-संस्कृति, कौशल्य, दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता का परिचय कर देती है। तुकारामजी की कई अनोखी बातें यहाँ प्रस्तुत की गई हैं। उनकी विपत्ति, उनके धैर्य, निःस्पृहता और असीम प्रेमभक्ति का बहुत वर्णन है। संतों की छोटी-बड़ी सभी गाथाओं में तुकाराम का गुण कीर्तन हुआ है। तुकारामजी ने अभंग कीर्तनों द्वारा जनसमूह पर होने वाले परिणामों का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। लोककवि सन्त तुकारामजी एक बड़े लोक संवादक थे। श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर इस सन्दर्भ में कहते हैं : “तुकाजी, ‘विमद, विराग, विमत्सर’ थे। नारद-प्रह्लाद के समान लोगों को हरिकथामृत पान कराने के लिए बैकुण्ठ से उतरे थे। ऐसे यह ज्ञानाम्बुधि और ‘मूर्तिमान भक्तिरस’ श्री तुकाराम को सब लोग प्रेम से गावें, ध्यावें और अपने पापों को तुकाबानी से भस्म करें।”⁴ तुकाराम महाराज के चरित्र और अभंगों पर लोगों का ध्यान विशेष रूप से लगा है। तुकारामजी की जीवनगाथा एवं अभंग गाथा तथा तुकारामजी का साहित्य एवं चरित्र बंगाल और कर्नाटक की भाषाओं में लिखे गए हैं। अंग्रेजी में भी तुकारामजी का साहित्य प्रस्तुत किया गया है। तुकाराम का धर्मविषयक ज्ञान निबन्ध बहुत ही विद्वतापूर्ण है। शेक्सपियर के काव्य से भी समृद्ध साहित्य तुकारामजी का था। लोकमस्तिष्क को चेतना पैदा करनेवाला साहित्य तुकारामजी का था। अभंग गाथा तो एक रूप से इतिहास की प्रचुर सामग्री से सम्पन्न है। भागवत धर्म प्रचार-प्रसार के लिए बारकरी मन्त्रों का कार्य करते हैं। इसका श्रेय लोककवि सन्त तुकाराम महाराज को जाता है। इस अध्ययन में तुकारामजी के जीवन-चरित्र के साथ अभंग गाथा का संक्षिप्त रूप से परिचय दिया गया है और लोककवि सन्त तुकारामजी का लोक संवाद विकसित किया

गया है। मध्ययुग में तुकारामजी प्रभावी लोक संवादक थे। पूरे भारतवर्ष में उनकी कीर्ति पहुँची है। विदेशों में भी सन्त तुकारामजी के अभंग गुनगान गाए जाते हैं। आधुनिक युग में तुकारामजी की सन्तवाणी ग्लोबल हो चुकी है। समूचे विश्व में महाराष्ट्र के सन्त परम्परा में तुकारामजी का लोक-साहित्य वैश्विक रूप धारण करने लगा है। इसलिए लोककवि सन्त तुकारामजी के लोक-संवाद का अध्ययन बहुत जरूरी है।

कालजीवन प्रवास : तुकारामजी का जन्म पूना जिले से 18 मील उत्तर-पश्चिम की ओर इन्द्रायणी नदी के तट पर स्थित देहू नामक ग्राम में हुआ था। तेरहवीं सदी में महाराष्ट्र के “देहू गाँव में पूना जिले में तुकारामजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम बोल्होबोवा था। और माता का नाम कनकाबाई था। बड़े प्रतिष्ठित बनिया घराने में उनका जन्म हुआ।”⁵ कनकाबाई के एक जन्म का नहीं असंख्य जन्मों का पुण्य था जो उसे देवलोक के लिए भी दुर्लभ तुकाराम जैसे श्रेष्ठ पुत्र का लाभ हुआ। वे श्रीकृष्ण को गर्भ में धारण करने वाली देवकी और उनका लालन-पालन करनेवाली यशोदा जैसी भाग्यवती थीं। तुकाराम की जननी भी वैसी भाग्यवती थी। बचपन से तुकारामजी बड़े खिलाड़ी थे और उन्होंने भी बहुत बाललीला की है। उनके वाणी में खिलाड़ीपन का रंग जरूर है। लेकिन वह पाण्डुरंग के परम भक्त थे। तुकारामजी का परिवार भी पाण्डुरंग का भक्त था। इसी स्थान में यह दास तुका श्री विठ्ठल चरणों को हृदय में धारण किया हुआ हरि-कीर्तन किया करता था। कवि चरित्रकार जनार्दन रामचन्द्र तथा सरंजामी जन्त्री के अनुसार “तुकाराम का जन्म देहू शक 1510 में हुआ। श्रीबालकृष्ण अनन्त भिडे ने कुछ प्रमाण प्रस्तुत कर इसी वर्ष तुकाराम का जन्म स्वीकार किया है।⁶ तुकारामजी के बारे में महीपति ‘भक्तीविजय’ में कहते हैं। “तुकाराम के जीवन के प्रथम बारह वर्ष माता-पिता के स्नेहांचल की सुखद और शीतल छाया में व्यतीत हुआ।”⁷ महाराष्ट्र के तीर्थस्थलों में देहू की भी गणना होने लगी है। तुकारामजी का प्रथम विवाह हुआ तब उनकी आयु बारह वर्ष रही होगी। उनकी गृहिणी का नाम रखुमाई था। विवाह के पश्चात दो-एक वर्ष भीतर ही जब यह मालूम हुआ कि रखुमाई को दमे की बीमारी है और इसके अच्छे होने का कोई लक्षण नहीं है तब तुकारामजी के माता-पिता ने उनका दूसरा विवाह कर दिया। तुकारामजी के वंश के बारे में श्रीमती रमेश सेठ कहती हैं कि “विश्वम्भर की पत्नी का नाम आमाबाई था। इनके दो पुत्र हुए हरि और मुकून्द। हरि के पुत्र विठ्ठल, विठ्ठल के पदाजी, पदाजी के शंकर कान्हा और कान्हा के पुत्र बोल्होजी हुए। उनकी पत्नी का नाम कनकाई था।”⁸ इन्हीं के गर्भ से तुकारामजी का जन्म हुआ। तुकारामजी के दो भाई थे। ज्येष्ठ सावजी और कनिष्ठ कान्होबा। तुकाराम के माता-पिता धार्मिक प्रवृत्तिवाले बनिया थे। तुकारामजी के वैवाहिक जीवन के बारे में श्री लक्ष्मण पांगारकर लिखते हैं : “तुकारामजी का वह दूसरा विवाह पूणे के आपाजी गुलबे नामक एक घनी साहूकार की कन्या के साथ

हुआ। तुकाजी की इन गृहिणी का नाम जिजाबाई या आवाळी था।”⁹ एक गृहिणी के रहते दूसरा विवाह करना यदि दोषास्पद हो तो भी वह दोष तुकारामजी को नहीं दिया जा सकता। जिजाबाई के काशी, भागीरथी, गंगा ये तीन कन्याएँ और महादेव, विठ्ठल और नारायण ये तीन पुत्र हुए इनमें काशी सबसे बड़ी थी और नारायण सबसे छोटे थे। तुकाराम जैसे सन्तवीर का परिवार बारकरी सम्प्रदाय का हिस्सा था। उनका काव्य बाललीलाओं को भी महत्त्व देता है। क्योंकि गुल्ली-डण्डा, आतीपाती और डण्डा-डोली आदि खेलों के अनेक रूप उनके काव्य में विद्यमान हैं। “मायाबापें केवळ काशी। तेणे न जावे तीर्थासी ॥ तुका म्हणे मायबापें। अवधीं देवाची स्वरूपें।”¹⁰ तुकाराम को माता-पिता का भरपूर प्रेम मिला और उन्होंने भी भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से उनकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य माना। तुका माता-पिता को तीर्थराज और भगवान का ही साक्षात् रूप मानते हैं। तुकारामजी को मूल संस्कृत ग्रन्थों का ज्ञान था और मूल के बचन गुनगुनाते हुए ही कई अभंग उन्होंने रचे हैं। गीता और भागवत के अवतरण देकर उनके साथ अभंगों का मिलन किया है। वह मराठी बहुत अच्छी तरह से लिख सकते थे। तात्पर्य, गीता, भागवत, कई अन्य पुराण, वेद तथा माहिम्नादि स्तोत्रों को तुकारामजी ने बहुत अच्छी तरह से पढ़ा था। संत तुकाराम के समय में मुगल शासक जहाँगीर भारत का शासक था। यद्यपि समूचा महाराष्ट्र उसके हाथ में नहीं आया। क्योंकि शिवाजी जैसे वीर उससे लोहा लेने के लिए जमकर तैयार हो रहे थे। मुगल शासकों का लगभग चार सौ वर्षों तक भारत पर साम्राज्य रहने के कारण बोलचाल और संस्कृति पर विदेशी भाषा का प्रभाव स्वाभाविक था। तुकारामजी के अभंगों में अरबीयुक्त मराठी भाषा सम्मिलित है।

(ग) “राम कहो जीवन फल सो ही।
हरिभजसु विलंब न पाई ॥
कवनका मन्दिर कवनकी झोपरी।
एक राम बिन सबहि फुकरी ॥
कवनकी काया कवनकी माया।
एक रामबिन सब हि जाया ॥
कहे तुका सब कि चलनार।
एक राम बिन नहिं बासरा ॥”¹¹

(घ) “तुका प्रभु बडो न मनू न मानूँ बडो।
जिस पास बहुदाम ॥
बलिहारी उस मुख की।
जिसती निकसे राम ॥”¹²

- (ड) “चित्त मिले तो सब मिले।
 नहीं तो फुकट संग।
 पानी पथर येक ही डोर।
 कोरनाभिगे अंग ॥”¹³

इसी तरह तुकारामजी को अरबी भाषा का ज्ञान था। इस लोकभाषा में अरबी युक्त मराठी भाषा में अभंग रचना की है। सन्त तुकाराम के समय महाराष्ट्र में बोली जाने वाली भाषाओं में मराठी के बाद हिन्दी का स्थान आता है। यही कारण है कि तुकाराम जी को हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान था अपने काव्य का सन्देश हिन्दी भाषी प्रदेशों तक प्रसारित करने के लिए ही उन्होंने हिन्दी में रचना की। यद्यपि भाषा व्याकरण की दृष्टि से उनके हिन्दी पदों में अनेक दोष शोधकर्ता ढूँढ़ सकते हैं। परन्तु तुका की सर्वग्राही चेतना की प्रशंसा किए बिना हम नहीं रह सकते। उनके कुछ हिन्दी पद द्रष्टव्य हैं :

- (क) “कहाँ से लाऊँ मधुरा बानी।
 रीझे ऐसी लोक बिरानी ॥
 गिरधार लाला तो भावका भूका।
 राग कला नहिं जानता तुका ॥”¹⁴
- (ख) “कबे मरूँ पाऊँ चरण तुम्हारे।
 ठाकूर मेरे जीवन प्यारे ॥”¹⁵

तुकारामजी कहते हैं कि “नामदेव पाण्डुरंग के साथ स्वप्न में आए और यह काम बताते गए कि कविता करो, वाणी व्यर्थ न करो, तुले हुए शब्दों में कविता किए चलो, तुम्हारा अभिमान श्री विठ्ठलनाथ ने ओढ़ लिया है और मुख से अभंग-पर-अभंग निकालते चलो, पाण्डुरंग ने तुम्हारा अभिमान जगाया है। वह सदा तुम्हारे वाणी में प्रेम प्रसाद स्फूर्ति भरते रहेंगे।”¹⁶ नामदेव ने शत कोटि अभंग रचने का संकल्प किया था। पर वह संकल्प पूरा होने में कुछ कसर रह गई थी। वह तुकारामजी ने पूरी की। कवि चरित्रकार श्री लक्ष्मण पांगारकर लिखते हैं कि “नामदेव ने चौरानबे कोटि चालीस लाख अभंग रचे, पीछे नौ लाख अभंग ललित के रचे और बाकी पाँच कोटि इक्कावन लाख अभंग रचने को तुकाराम से कहा।”¹⁷ तुकारामजी के मुख से कितने अभंग निकले इसकी गणना करना असम्भव है। इस सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि नामदेव ने रचला पाया। तुका झाला कळस। इसका अर्थ यह है कि नामदेव ने रचाया पय्या। तुका हुआ मूकूट। इस दोनों महान सन्तों की अपनी रचनाएँ पंजाब के सिख धर्म के ग्रन्थ गुरुग्रन्थ साहब में सम्मिलित हैं। पूरे भारत में नामदेव, तुकारामजी को पहचाना जाता है। सारी दुनिया में उनका लोक साहित्य लोकप्रिय हुआ। ये दोनों सन्त पाण्डुरंग के परम भक्त थे। नामदेव का अधूरा कार्य तुकारामजी ने पूरा किया। इस सम्बन्ध में

दो अभंग प्रसिद्ध हैं। वेदाचे अभंग केले श्रुतीपर। यह अभंग *इन्द्रप्रकाश गाथा* के चरित्र भाग में है। इसमें कहा है कि “तुकारामजी ने एक कोटि अभंग भक्तिपरक, एक कोटि ज्ञानपरक, एक कोटि अनुभवपरक, पचहत्तर लाख वैराग्यपरक, पचहत्तर लाख नामपरक, इस प्रकार साठे चार कोटि और साठ हजार उपदेशपरक, साठ हजार रूपदर्शनपरक तथा कुछ श्रुति, आत्मबोध आदि पर रचे।”¹⁸ कुछ हिसाब इसमें पाँच कोटि लाख का दिया है। तुकारामजी ने सात कोटि अभंग रचे जिनमें से साठे ठः कोटि स्वयं गणेशजी ने अपने हाथ से लिखे हैं। इस समय हमारे लिए तो तुकारामजी के साठे पाँच हजार अभंग बचे हैं। तुकारामजी के साहित्य के बारे में गी डलरी ने “1956 में तुकोबा के ऊपर फ्रेंच भाषा में ग्रन्थ लिखा है।”¹⁹ इस ग्रन्थ ने वहाँ के आम आदमी को तुकोबा के कवित्व और साहित्य की महत्ता की पहचान करा दी। आज के युग में तुकारामजी का साहित्य हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, फ्रेंच, जर्मन, रशियन, स्पॅनिश, एस्पॅरन्तो, नेदरलैण्ड की भाषा में अनुवादित साहित्य वेबसाइट पर उपलब्ध है। पाँच साल पहले तुकाराम डॉटकॉम वेबसाइट प्रारम्भ हो गई। 133 देशों में साठे तीन सौ सालों के सन्त चरित्र और कवित्व की महिमा पूरे विश्व में पहुँच चुकी है। तुकारामजी के वैश्विक लोकसंवाद के बारे में देवेन्द्र राक्षे लिखते हैं “न्यूयॉर्क में डेना विल्किन्सन शान्ति मन्दिर में अपने बीवी के साथ तुकाराम गाथा के अभंग गाते हैं। सत्यजीत रे की सन्त तुकाराम फिल्म और सीडीज भी उनके पास है। तुकाराम गाथा के विभिन्न अभंग मुखोद्गत हैं, अध्यात्म और संघर्ष का मिलाप अभंगगाथा में है। ऐसा डेना का कहना है। सूचना प्रौद्योगिकी के युग में वेबसाइट के जमाने में सत्रहवीं शताब्दी में एक मराठी सन्त ने पूरे विश्व में अनी छवि निर्माण की है।”²⁰ उसकी विश्व के किसी भी लोकसाहित्य एवं काव्य में तुलना नहीं हो सकती। इसी के साथ बचपन से ही वे विट्ठल की उपासना में थे। उनके अभंगों में भी सर्वत्र पाण्डुरंग (विट्ठल) का ही नाम कीर्तन है जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह विट्ठल का ही ध्यान करते थे। ‘विट्ठल’ पद से विठु-विट्ठल-विठोबा का ही बोध होता है। महाराष्ट्र में भागवत धर्म के भक्तों को विष्णुदास वैष्णव कहते हैं। तुकारामजी ने ‘विठोबा’ नाम की व्युत्पत्ति ‘गरुड़ वाहन’ ‘गरुड़ध्वज’ लगाई है। तुकारामजी के लोकसंवाद से दाम्भिक दुर्जनों पर इनका जो वाक्-प्रहार उन्हीं के उद्धार के निमित्त हुआ करता था, उसे लोग सावधान होने लगे और झूठ का बाजार उठने लगा। सर्वत्र लोककवि सन्त तुकारामजी का बोलबाला हुआ। उन्हीं के बोले जाने लगे। आपण जेऊन जेववी लोकां।²¹ स्वयं जीमकर लोगों को जिमाता है, ऐसा सन्तार्पण तुका करता है। इस विलक्षण उक्ति का प्रत्यक्ष लक्षण अब लोगों ने देख लिया। देहू में परमार्थ का मानो एक नया विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। तुकारामजी स्वयं उसके संचालक और सूत्रधार बने। आस-पास के गाँव में तथा दूर-दूर से भी भगवान पाण्डुरंग के प्रेमी आ-आकर इस विश्वविद्यालय में शिक्षा लाभ करने लगे। देहू, लोहगाँव, तेलगाँव, पूना, तथा पण्डरपुर के रास्ते के सभी स्थानों में तुकारामजी के

कीर्तनों की झड़ी लग गई। सहज लोग उन्हें गुरु कहकर पूजने लगे। लोककल्याण की कामना तृप्त करने की इच्छा-शक्ति तुकारामजी में थी। इसीलिए उन्हें सन्तकवि तुकारामजी को जगतगुरु कहते हैं। आज विश्व में तुकारामजी के नाम पर अर्जेन्टिना की राजधानी ब्युनोस एरीस में तुकाराम पेंडॉलॉजिकल सेंटर का निर्माण किया गया है। इस केन्द्र में भारतीय मराठी लोग तुकाराम के अभंग गाथा का पठन करते हैं। अमेरिका, इंग्लैण्ड, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, अल्बेनिया, ऑस्ट्रिया, बोस्निया, बल्गेरिया, इटली, हंगेरी, जमैका, होंडुरास, सउदी अरेबिया, येमेन, व्हेतनाम, व्हेनेजुएला, झाम्बीया तक तुकाराम डॉट कॉम की वेबसाइट पहुँच चुकी है। भारतवर्ष में लम्बे समय तक चले भक्ति आन्दोलन के वे एक आधार-स्तम्भ थे। लोकगायक और सन्त-लोककवि का नाम आते ही आँखों के सामने सन्त तुकारामजी का चित्र उभरकर आता है। उनके अभंगों को अंग्रेजी भाषा में अनुवादित किया गया है। वसई के विशप थॉम्स डबरे ने “तीन सौ पचास साल पहले व्हेटिकन सिटी में *God Experience of Tukoba* इस विषय पर रिसर्च पेपर प्रस्तुत किया था।”²² जर्मन विशेषज्ञ लोथार लुत्से ने दिलीप पुरुषोत्तम चित्रे के मार्गदर्शन में “*God Experience of Tukoba* ग्रन्थ लिखा। इसकी जर्मन समाचार-पत्रों में समीक्षा प्रकाशित की गई। इसमें एक समीक्षा में तुकाराम और जर्मन विशेषज्ञ नित्से के तत्त्वज्ञान का साम्य देखा गया, ऐसा कहा गया है।”²³ 4500 गाथा (*Gatha*) के रूप में अभंग की रचनाएँ निर्मित हैं। तुकारामजी के पूर्वज देहू में रहते थे। सन्तों का कोई भी धर्म, जातपाँत नहीं रहता। मानवता की सेवा करना ही उनका धर्म होता है। पंजाब के सिख धर्म में सन्त नामदेव के साथ सन्त तुकाराम को मान्यता दी गई है और इसलिए उनकी कविता भी गुरु ग्रन्थ साहब में शामिल की गई है। महाराष्ट्र शासन गॅज़ेट के अनुसार “ब्रिटिश सरकार ने अधिकारिक तौर पर 4607 अभंग गाथा का पहला संग्रह 1873 में प्रकाशित किया था। और तुकाराम गाथाओं को अंग्रेजी भाषा में अनुवाद में 3,721 कविताओं को शामिल किया गया है।”²⁴ जगतगुरु सन्त तुकारामजी का जीवन त्याग से भरा हुआ था। सन्त तुकाराम एक सच्चे प्रतिभाशाली कवि थे और सुधारवादी विचारधारा के थे। सन्त तुकारामजी की अभंगगाथा लोकसाहित्य का निर्माण करती है। गाथा के लोकमस्तिष्क ने अपने इतिहास की कड़ियाँ अपने कविताओं एवं गीताओं में अपनी कथाओं में जोड़ी है। लोककथाएँ तो एक रूप से इतिहास की प्रचुर सामग्री से सम्पन्न हैं। अभंगों द्वारा मानव समाज के अनेक संस्कार के लिए वारकरी सम्प्रदाय गाथा मन्त्रों का उपयोग करता है। छोटे-बड़े, शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के लोग तुकारामजी के लोकभाषा साहित्य में रुचि लेते हैं। तुकारामजी कहते हैं कि “मना करा रे प्रसन्न। सर्व सिद्धि चे साधन ॥ मोक्ष अथवा बंधन। सुख समाधान इच्छिते ॥”²⁵ इसका अर्थ यह है कि “मन को प्रसन्न करो जो सिद्धियों का साधन है। जो मोक्ष अथवा बंधन का कारण है। (उसे प्रसन्न कर) उस सुख-समाधान की इच्छा करो। ऐसा तुकारामजी ने अभंगों में कहा है।

मराठी सन्त साहित्य में तुकारामजी की गाथा शाश्वत काव्य है। तुकारामजी के शिष्यमण्डल में निळोबा और सन्त बहिणाबाई का स्थान बहुत ऊँचा है।” पूरे विश्व में तुकारामजी के शिष्यों का बड़ा संसार है। वे भागवत धर्म के प्रचारक एवं वाहक थे। वे वेदों का ज्ञान शूद्र को मिलना चाहिए इस पक्ष में थे। इसीलिए उनको दलितों का उद्धारक भी कहते हैं। लेकिन उनका पूरा कार्य भागवत धर्म के लिए और हिन्दूधर्म के सुधार के लिए था। उनका परिवार लॉर्ड ऑफ विठोबा (पाण्डुरंग) का परम भक्त था। तुकारामजी का देहान्त शके 1571 में हुआ।

लोककवि सन्त तुकाराम प्रबोधन युग के लोक संवादक : सन्त तुकारामजी का संचार का आधार अभंगगाथा एवं प्रवचनरूपी संवाद है। आध्यात्मिक चेतना के द्वारा अत्याचारी लोगों में जागरूकता लाने के लिए अभंगगाथा की शुरुआत की। महाज्ञानी, तपस्वी, तेजस्वी वाणी से वारकरी सम्प्रदाय कवि के बातों से मन्त्रमुग्ध होता था। तुकारामजी कहते हैं “बहुत काल बाद पुण्य का उदय हुआ, मेरा भाग्योदय हो गया। जो सन्त चरणों के दर्शन हुए।”²⁶ सदा सन्त संग होने में महान प्रेम की वर्षा होती है। वारकरी पंढरी की यात्रा में तुकारामजी के संग हो तो प्रसन्न मुद्रा में भगवन्त की आराधना करते हैं। तुकारामजी उनसे कहते हैं। “सुगम मार्ग से चलो और मुख से विट्ठल नाम लेते चलो। हम सब लंगोटिया यार ही तो हैं। लाज किसकी करते हो? आनन्द में मस्त होकर गला फाड़कर चिल्लाओ। हाथ में गरुडांकित ध्वजा-पताका ले लो, खूब सज-धजके चलो।”²⁷ सन्त तुकाराम प्रभावी लोकसंवादक (द ग्रेट कम्युनिकेटर) थे। सन्तों के मेलों में कीर्तन का आनन्द लोग लेते थे। कीर्तन मौखिक संचार का माध्यम है। गाँवों-गाँवों में वारकियों की मण्डलियाँ होती हैं। उनके देखने से ज्ञात होता है कि प्रायः रात को विशेषकर एकादशी और गुरुवार अथवा सोमवार को एकत्र होकर भजन करते हैं। फिर आषाढी कार्तिकी के अवसर पर ये लोग मण्डली बाँधकर ही भजन-कीर्तन करते हैं। इस प्रकार अत्यधिक नियमी वारकरियों के मेलों में ही तुकारामजी का जीवन बीता है। कीर्तन बहुत अच्छी चीज है। इससे शरीर हरि रूप होता जाता है। कीर्तन लोकशिक्षा का प्रभावी मीडिया है। तुकारामजी कहते हैं : “माझे भक्त गाती जेथें। नारदा मी उभा तेथें ॥1॥”²⁸ नारद। मेरे भक्त जहाँ गाते हैं। वहाँ मैं खड़ा रहता हूँ। तात्पर्य कीर्तन में छोटे-बड़े सब अनायास ऐसा अपार भक्ति सुख-लाभ करते हैं। ज्ञान यह भक्ति है। भजन, कीर्तन, प्रवचन, हास-परिहास मनोरंजन आदि में मौखिक अभिव्यक्ति होती है।

सन्त तुकारामजी प्रबोधन युग के प्रभावी लोकसंवादक थे। तुका कहता है कि “वृक्षवल्ली आम्हा सगे सोयरे वनचरें।”²⁹ पर्यावरण संतुलन के बारे में लोगों में मानवी चेतना पैदा करने का प्रयास अभंगों द्वारा तुकारामजी ने किया है। सन्त चरणों की रज का अनुभव मुझे अपने अन्दर प्राप्त हुआ। इसके सेवन से वह सुख मिला जिसमें कोई दुःख नहीं होता। सन्त तुकाराम कहते हैं : “दसरा दिवाळी तोचि आम्हां सण। सखे

संतजन भेटतील ॥१॥॥॥³⁰ सन्त मिलन की बड़ी इच्छा थी। बड़े भाग्य से वह मिलन हुआ। तुका कहता है। इससे सब परिश्रम सफल हो गया। यहाँ सन्त शब्द का अर्थ अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। तुकारामजी ने इन अभंगों में हरिदास (हरि कीर्तन करने वाले) भावुक प्रेमी वारकरी इन सबको ही सन्त कहा है। सन्त शब्द का व्यापक प्रयोग तुकारामजी ने किया है जो हरि के नाम गाते हैं। वे मेरे परलोक के साथी हैं। तुका कहता है, मैं उनके उपकारों से बँधा हूँ। इसलिए सन्तों की शरण में आया हूँ। तुका कहता है : “जे का रंजले गांजले। त्यासी म्हणे जो आपुले ॥६॥ तोचि साधु ओळखावा ।”³¹

सन्त तुकारामजी ने भेषधारी साधुओं, पाखण्डियों और दम्भिकों की खूब खबर ली है। तुकारामजी की सत्यनिष्ठा इतनी ज्वलन्त, भक्ति इतनी आन्तरिक और वाणी न्याय में ऐसी निष्ठुर थी कि झूठ उन्हें जरा की सख नहीं था। वे सच्चाई को महत्त्व देते थे। निर्बल लोगों को सही रास्ता बताने वाले सन्त होते हैं। इसीलिए तुकारामजी को दलित सन्त की उपमा दी जाती है। जो दुर्बल और दीन-दलित लोगों को नजदीक लाता है। वह धर्म विश्वधर्म होता है ऐसा भी तुकारामजी कहते हैं। तुकारामजी के अभंग के बारे में वासुदेव मुलाटे लिखते हैं कि तुका कहता है : “अणु रेणु या थोकड़ा। तुका आकाशाएवढा ॥१॥॥॥” गिलुनि सांडिले काळवर भ्रमाचा आकार ॥६९॥ सांडिली त्रिपुटी। दीप उजळला घटी ॥२॥ तुका म्हणे आता। उरलो उपकारा पुरता ॥३॥³² मैं ब्रह्माण्ड का सबसे छोटा जीव हूँ। पूरी पृथ्वी के छोटे कण का एक हिस्सा हूँ। लेकिन मैं सभी में सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान हूँ। इससे ऐसा लगता है तुकारामजी का वैश्विक संवाद विश्वव्यापी था। विचारधारा सर्वव्यापी, धर्मनिरपेक्ष थी। सन्त एवं कवि समाज में नई मानव चेतना पैदा करते हैं। उनके काव्य में परिणामकारकता होती है और विश्व का भ्रमण होता है। यह तुकारामजी के काव्य में सम्मिलित है। सन्त तुकारामजी के प्रवचन में दर्शक के रूप में छत्रपति शिवाजी महाराज, जिवा महल शूरवीर मराठा सरदार उपस्थित रहते थे। विडल नाम का गुणगान करते थे। तुकारामजी ने छत्रपति शिवाजी महाराज और जिजाबाई को उपदेश एवं मार्गदर्शन किया। और छत्रपति शिवाजी महाराज ने स्वयं तुकारामजी को हीरे मुकूटमणि का नजराना भेजवाया था। लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। मा.म. देशमुख ने इसके बारे में कहा है कि “हिन्दवी स्वराज्य स्थापित करने के लिए मार्गदर्शन किया और सन्तों का छत्रपति शिवाजी महाराज ने अपने काल में आदर, सम्मान किया।”³³ क्योंकि सन्तों द्वारा समाज में होनेवाली बुराइयों के बारे में जागरूकता पैदा करने की दिशा में प्रयास किए गए। इसमें सन्त कवि तुकारामजी का प्राथमिकता से नाम लिया जाता है। तुकारामजी शिवाजी महाराज के समकालीन सन्त थे। आम तौर पर उनका जीवन त्याग से भरा हुआ है। सामाजिक सुधारों पर कई भाष्य किए हैं। छत्रपति शिवाजी महाराज स्वयं ही श्री तुकारामजी के दर्शन के लिए देहू या लोहगाँव में जाते थे।

राष्ट्रमाता जिजाबाई को यह भय हुआ कि शिवाजी राजकाज छोड़कर कहीं वैराग्य योग न ले लें। वह स्वयं देहू पहुँचीं। तुकारामजी ने हरिकीर्तन करते हुए वर्णाश्रम धर्म बताया और क्षात्रधर्म राजधर्म का रहस्य प्रकट करके शिवाजी को स्वकर्तव्य पर आरूढ़ किया। लोककवि सन्त तुकारामजी ने लोकसाहित्य के द्वारा प्रबोधन किया। उनके वाणी एवं संवाद से आत्मिक सुख प्राप्त होता था। कविता स्फूर्ति से लोग आकर्षित होते थे। वे बड़े लोकसंवादक थे।

श्री लक्ष्मण पांगारकर लिखते हैं : “सन्त तुकाराम महाराज कीर्तन कर रहे थे। श्रोताओं में शिवाजी बैठे सुन रहे थे। ऐसे अवसर पर एक हजार पठान चढ आए और उन्होंने मन्दिर को घेर लिया। परन्तु सन्त तुकाराम महाराज के पुण्य-प्रताप को शिवाजी जानते थे उन्होंने शिवाजी को पकड़ने के लिए आए हुए उन एक हजार पठानों के सामने होकर एक हजार पुरुष निकल गए जो दिखने में शिवाजी जैसे ही प्रतीत होते थे और इन सहस्र संख्यक शिवाओं को देखकर पठानों के होश ही गुम हो गए। शिवाजी ऐसे निकल भागे और मुगल सेना के हक्के-बक्के रह गए।”³⁴ और तुकारामजी का नाम पूरे राष्ट्र में फैला और बुद्धिमत्ता, उद्योग-दक्षता, उच्चध्येयता, पराक्रम, साहस, लोककल्याण, कर्मनिष्ठा इत्यादि असली वीर के सहज गुण हैं। सन्त तुकाराम और शिवाजी वीर थे। तुकारामजी ने शिष्य और शिवाजी के सैनिक, धर्मवीर और रणवीर दोनों को उपदेश किया और शिवाजी ने स्वराज्य संस्थापित करके दिखा दिया। इसके पीछे तुकारामजी का प्रबोधन और मार्ग-निर्देशन था। श्री तुकारामजी चरित्र में लिखा है कि “पूर्व मावलों को धर्म, व्यवहार की अमोघ शिक्षा तुकारामजी के हरिकीर्तनों से प्राप्त हुई थी।”³⁵ छत्रपति शिवाजी के मावलों को तुकारामजी ने ज्ञान के द्वारा स्वराज्य-निर्माण के लिए प्रेरित किया। जब-जब राष्ट्र पर संकट एवं कलिकाल के प्रभाव से राष्ट्र पर धर्मगलानि की घटना बीच में घिर आया करती है और ऐसे समय लोग, शक्तिहीन, दुर्बल बन जाते हैं। तब धर्मरक्षा के लिए सन्त एवं महापुरुष अवतीर्ण होते हैं और सन्त तुकारामजी जैसे सन्तों का उदय होता है। धर्म का तत्कालीन सामाजिक विचारधारा पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। जाति और वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार करने का कार्य सन्त तुकारामजी ने किया है और महाराष्ट्र धर्म में एकात्मता बढ़ाने के लिए उच्चवर्णीय, मराठी तथा कुणबी को एक सूत्र में बाँधने का कार्य किया। कीर्तन, भजन, प्रवचन के माध्यम से भारतीय सन्तों ने समाज में प्रबोधन किया। समाज में व्याप्त दोहरा जीवन, दोहरी नीतियाँ, अन्धविश्वास, ढोंग, अन्धेर्गर्दी, मदान्धता को मिटाने के लिए कीर्तन एवं प्रवचन के मौखिक संचार साधना द्वारा अहम् भूमिका निभाई। तुकारामजी ने नैतिक और बौद्धिक ईमानदारी का वातावरण शिवकाल में निर्मित किया। तुकारामजी कहते हैं कि “वेदाचा तो अर्थ आम्हासच ठावा येरणी वाहावा भार माथा।”³⁶ वेद का अर्थ हमें मालूम है। हमें किसी के बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। लोग सिर्फ जय-जयकार करें। वेद की परिभाषा पूरी तरह हम

जानते हैं। तुका कहता है कि, “अनुभव से हमने यह जाना है। इस आनन्द को लेनेवाले और भी भक्त हैं।”³⁷ जो यही कहेंगे जो मैं कह रहा हूँ। जो करोगे वही पाओगे। अभ्यास से क्या नहीं होता उद्योग करने से असाध्य भी साध्य हो जाता है। अभ्यास ही फल देने वाला है। आज के आधुनिक युग में तुकारामजी के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीहरी की शरण में जाओ, उन्हीं के होकर रहो। उनके गुणगान में मग्न हो जाओ। संसार जो आकर सामने आया है। उसे भगा दो। और इसी देह से, इन्हीं आँखों से मुक्ति का आनन्द लूटो। हरी नाम संकीर्तन से भव सिन्धु सिमट जाता है। यह तो तुकारामजी अपने अनुभव से कहते हैं।

लोककवि सन्त तुकारामजी ने महाराष्ट्र में सामाजिक-सांस्कृतिक नवनिर्माण के लिए भक्ति आन्दोलन करने में योगदान दिया। वे शिवाजी महाराज के धार्मिक गुरु माने जाते थे और पाण्डुरंग यानी लॉर्ड ऑफ विठोबा के परम भक्त थे। सन्त तुकारामजी ने इस बात पर बल दिया है कि सभी मनुष्य परमपिता ईश्वर की संतान हैं और इसी कारण समान हैं। कोई भी उच्च-नीच नहीं है। तुकारामजी के अभंग बहुत मधुर हैं। प्रत्येक अभंग सौ चरणों का है। आध्यात्मिक भक्ति आन्दोलन के द्वारा तुकारामजी ने सामाजिक परिवर्तन के लिए दिशा-दर्शक प्रबोधन एवं मार्गदर्शन किया है। इससे महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय का समूह बहुत बड़ा है। आज भी यह सम्प्रदाय उनकी आराधना करता है। “उन्होंने स्थानीय भाषा में भगवान विठ्ठल को समर्पित भक्ति-गीतों की रचना की। उनके गीतों में इतनी सहजता थी कि राजा से लेकर फकीर तक उनको गुरु मानते थे।”³⁸ उनके गीतों का मराठी के धार्मिक साहित्य में अमूल्य योगदान है। 1936 में फतेलाल और दामले द्वारा सन्त तुकारामजी पर पहली फिल्म बनाई गई। भारतीय सिनेमा के इतिहास में यह फिल्म महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इस फिल्म में सन्त तुकाराम को बहुत अच्छा प्रस्तुत किया गया था। उसके बाद तेलगु भाषा में भक्त तुकाराम फिल्म 1973 में बनाई गई। कई मराठी, हिन्दी, तेलगु भाषा के फिल्मों में सन्त तुकाराम को प्रस्तुत किया गया। 1963 में भी सन्त तुकाराम फिल्म बनाई गई थी, उसकी काफी सराहना की गई। आज भी भागवत धर्म को बढ़ाने के लिए सन्त तुकारामजी की अभंग रचनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय आकाशवाणी (प्रसार भारती) के द्वारा सन्तवाणी कार्यक्रम के अन्तर्गत अभंग गायन किया जाता है। इसमें संगीत और गायन का संगम होता है। मधुरवाणी से श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाता है और आध्यात्मिक आराधना से मनुष्य समाधानी होता है। महाराष्ट्र के क्षितिज पर तुकाराम महाराज जैसे भक्त चूड़ामणि का उदय हुआ। अमरेन्द्र धनेश्वर लिखते हैं : “संगीत विशारद भीमसेन जोशीजी ने सन्त तुकारामजी की कई अभंग रचनाएँ स्वरबद्ध की हैं, उसमें से ‘तीर्थ विठ्ठल क्षेत्र विठ्ठल’ ये अभंग रचना लोगों के मन में घर कर बैठी। स्वरसाम्राज्ञी लता मंगेशकर ने भी सन्त तुकारामजी के कई अभंग अपने स्वर में स्वरबद्ध किए।”³⁹ दक्षिणात्य देश में प्रख्यात दक्षिणात्य गायिका एम.

सुब्बालक्ष्मी के घर में तुकारामजी का भव्य छायाचित्र लगाया गया है। सन्त तुकारामजी के अभंग वे प्रायः ही गाती हैं। तमिल भाषा में तुकाराम के अभंग अनुवादित किए गए हैं।

मध्यकाल में प्रबोधन का युग शुरू हुआ। इसका श्रेय इस योगी को जाता है। “शालिवाहन की तेरहवीं शताब्दी में रामदेव राव जैसे धर्मात्मा राजा, हेमाद्री जैसे विद्वान और बुद्धिमान राजकार्यकर्ता, बोपदेव जैसे पण्डित, श्री ज्ञानेश्वर महाराज जैसे अवतारी भागवत धर्म प्रवर्तक, नामदेव जैसे सगुण प्रेमी, सन्त चोखा-मेला, गोरा कुम्हार, सावता माली जैसे भक्त, मुक्ताबाई-जनाबाई जैसी परमभक्त स्त्रियाँ जिस काल में महाराष्ट्र में उत्पन्न हुई वह काल निश्चय ही परम धन्य है।”⁴⁰ महाराष्ट्र के सन्त साहित्य में मुकुटमणि के समान शोभायमान अभंगगाथा के महद्-भाग्य से महाराष्ट्र देश का निर्माण हुआ और महाराष्ट्र प्रदेश में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजकीय पुनर्जीवन जागरण में तुकारामजी का लोकसंवाद महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लोककवि सन्त तुकारामजी का लोक संवाद : आज के आधुनिक युग के मानवीय रिश्तों से बढ़कर अर्थ ही महत्त्वपूर्ण और अन्तिम सत्य लगने लगा है। धन-सम्पदा की मोह से वह पूरी तरह से गुमराह हो गया है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में क्रय-विक्रय के लिए अर्थ को विशेष स्थान दिया जा रहा है और मनुष्य की दैनन्दिन धन-सम्पदा की लालसा बढ़ती जा रही है। डॉ. धर्मवीर के अनुसार “उनका प्राथमिक उद्देश्य सामाजिक विषमता तथा आर्थिक शोषण का प्रतिवाद था, न कि प्रभुत्व के जो वर्तमान संस्थान है, उन्हें वैध ठहराना।”⁴¹ आज ज्यों-ज्यों अन्याय, अत्याचार, साम्प्रदायिक आघात बढ़ रहे हैं, त्यों-त्यों सन्त तुकारामजी की वाणी प्रासंगिक होती जा रही है। सन्तवाणी में सन्त तुकाराम, सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त नामदेव, सन्त कबीर की वाणी अधुनातन मानवीय-मूल्यों को महत्त्वपूर्ण बना रही है। वे सामाजिक दायित्व को जगाना चाहते थे। इसलिए उनके अर्थ विषयक विचारों में दान को अधिक बल मिला है। वे समाज में आदर्श नागरिक निर्माण करना चाहते थे।

सन्त तुकाराम ने बाल्यावस्था में ही उत्तम व्यवहार कर धनराशि कमाने का और और उदास वृत्ति से खर्च कम करने का उत्तम आदर्श लोगों के सामने प्रस्तुत किया था। डॉ. आ.ह. साळुंखे के अनुसार “सर्व सामान्य का शोषण करने के लिए साहूकारी (महाजन) जैसा महत्त्वपूर्ण साधन उनके पास था। वह उन्होंने अपने हाथों से नदी में डुबा दिया। और सांसारिक जीवों के सामने आचरण के द्वारा एक नया आदर्श प्रस्थापित किया।”⁴² समग्र जीवन में तुकारामजी ने धन-सम्पदा का त्याग किया और किसी को फँसाकर धनसंचय करना नहीं चाहिए ऐसा तुकारामजी का मानना था। सोलहवीं शताब्दी में अकाल से पीड़ित सभी किसानों का कर्जा माफ करने वाले सन्त तुकाराम अद्भुत एवं अद्वितीय सन्त थे। तुकारामजी अपने खेत पर एक किसान को लेकर गए और उसको रस पिलाया। और ईख की फाँदी देकर उन्हें विदा किया।

“तुकारामजी ऊँख लिए ज्यों ही गाँव में पहुँचे त्यों ही बच्चों ने उन्हें घेर लिया और ऊँख माँगने लगे। तुकारामजी ने बोझ उतारा और सब ऊँख उन बच्चों को बाँट दिए तीन ऊँख रह गए।”⁴³ इस तरह तुकारामजी परोपकार करते रहे और उनका सम्पूर्ण जीवन परोपकार में बीता। दीन-दुःखियों को वह अपना कहने लगे। उन्होंने ही जाना संसार नश्वर है और सांसारिक सुख केवल भ्रम है। उन्होंने ही यह समझा कि प्रापंचिक वासनाओं में कभी भी न फँसना चाहिए। इस प्रकार उनके हृदय में वैराग्य का बीजारोपण हुआ जो परमार्थ वृक्ष का मूल है। तुका कहता है कि, “धन मिळविले कोटी। काळ घेतल्या न सोडी ॥”⁴⁴ इन्सान ने भले ही करोड़ों की धनशक्ति एवं धनसम्पदा कमाई की हो, लेकिन समय एवं काल तुम्हें छोड़ने वाला नहीं है। तुका कहता है कि एक बार यदि धन-सम्पदा कमाने की लालसा इन्सान में जगाई तो हम इस चक्रव्यूह में फँस जाते हैं। पैसा कमाने के लिए पागलपन का हम सहारा लेते हैं। परन्तु वह लालसा कभी खत्म नहीं होती। “धन सासे लोग वेज। वे बड बड शमेना ॥”⁴⁵ धनसंचय की लालसा इन्सान में यदि सवार हो गई तो वह मरते दम तक खत्म नहीं होती। लोककवि सन्त तुकारामजी का ऐसा मानना था कि संचित धन का विनियोग तुरन्त करना चाहिए। जीते जी उसको व्यवहार में लाना चाहिए, क्योंकि मरने के उपरान्त ना ही वह हमारे साथ आता है। यह विचार आज के लोगों के ध्यान में लेने जैसा है क्योंकि आज आधुनिक युग में हम जीते जी तो संचित धन के ब्याज का लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। हमें धर्म और व्यवहार से व्यवसाय को जोड़ना चाहिए। खर्च कम करना चाहिए निष्काम बुद्धिनीति से देश, काल, पात्रता, आदि का विचार करना चाहिए। तभी राष्ट्र की उन्नति एवं प्रगति हो सकती है, ऐसा तुकारामजी का मानना था। तुका कहता है : “जोडोनिया धन उत्तम वेव्हारे उदास विचारे। वेंच करी ॥१॥ उत्तमचि गति तो एक पावेल। उत्तम भोगील जीव खाणी ॥धृ॥”⁴⁶ तुका कहते हैं कि इस लोक के व्यवहार से आँखें धुएँ से भरी हुई न रखो। उत्तम व्यवहार करते समय नीति शास्त्र संसार में सुव्यवस्था रखने के लिए नीति-नियमों की जरूरत है और धनसम्पदा मिट्टी के समान है। इन्सान जन्म से लेकर मृत्यु तक धनशक्ति कमाने की इच्छा रखता है और सही जिन्दगी और आदर्श नागरिक बनाने के तमन्ना भूल जाता है। ऐसा भी सन्देश लोककवि सन्त तुकारामजी ने दिया है।

सन्त लोककवि तुकाराम महाराज का भारतवर्ष के वैष्णव सन्तों की श्रेणी में अग्रणी स्थान है। उन्होंने सन्त नामदेव का अधूरा कार्य पूरा किया है। तुकारामजी की भक्ति रचनाएँ आधुनिक युग में समाज के बदलाव के लिए सामर्थ्यशाली हैं। समाज में होनेवाली बुराइयों का भी उन्होंने चिकित्सात्मक विवेचन किया है। हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक नवनिर्माण में भक्ति आन्दोलन का बड़ा योगदान रहा है। उससे सामाजिक बदलाव आया। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी लोककवि सन्त तुकारामजी का लोकसाहित्य लोगों के लिए मार्गदर्शक एवं प्रेरक है। आज के युग में तुकारामजी को लोक संवादक

के रूप में मास मीडिया ने प्रस्तुत किया है। मध्ययुगीन काल में भी तुकारामजी बड़े प्रभावी लोकसंवादक थे। अपने मधुर वाणी से उन्होंने लोगों में भक्ति की ज्योति जगाई। वर्तमान में भी तुकारामजी के अभंगगाथा से जनमानस में एक अद्भुत जीवन-शक्ति का संचार होता है। तुकारामजी का लोकसंवाद विश्वव्यापी है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

संदर्भ

1. डॉ. श्रीमती रमेश सेठतुकाराम एवं कबीर एक तुलनात्मक अध्ययन, साहित्य शोध संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1979, पृ. 1
2. डॉ. अर्जुन तिवारीजनसंचार और हिन्दी पत्रकारिता, जयभारती इलाहाबाद, पृ. 86
3. सम्पादक डॉ. विश्वनाथ जी कराडज्ञानेश्वर ए. मन्त्रा फार द वर्ल्ड पीस सेन्टर मिलेनियम, माइर् एम.आई.टी. पूणे, तृतीय संस्करण, 2004, पृ. 3
4. श्री. लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकरश्री तुकाराम चरितजीवनी और उपदेश, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ. 11
5. व्ही.एस. सागरअस्सा हा महाराष्ट्र, के सागर प्रकाशन पूणे, प्रथम संस्करण 1994, पृ. 350
6. तुकाराम बोवापृ. 13-14
7. न.चि. जोगलेकरहिन्दी और मराठी के वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 247
8. श्रीमती रमेश सेठतुकाराम एवं कबीरएक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 10
9. श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकरश्री तुकाराम चरित, पृ. 73
10. तु. अ. गा.2906
11. वही पृ. 1165
12. वही पृ. 1179
13. वही पृ. 1195
14. तु. अ. गा. 1151
15. वही पृ. 1157
16. श्री. लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर-तुकाराम चरित, पृ. 233
17. वही पृ. 233
18. वही पृ. 233
19. देवेन्द्र राक्षेतुका झालासे ग्लोबल! महाराष्ट्र टाइम्सवेनेट कोलमन् कम्पनी, मुम्बई, आषाढी विशेषांक, जुलाई 2007, विश्वशान्ति केन्द्र (आळंदी) माईर्स एम.आई.टी. पूणे पृ.63
20. वही पृ. 62
21. श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकरतुकाराम चरित पृ. 372

22. देवेन्द्र राक्षेतुका झालासे ग्लोबल! महाराष्ट्र टाइम्सबेनेट कोलमन्, मुम्बई, आषाढी विशेषांक, जुलाई 2007, विश्वशान्ति केन्द्र (आळंदी) माईर्स एम.आई.टी. पूणे. पृ. 63
23. वही पृ. 63
24. महाराष्ट्र गवर्नमेंट गॅजट 1950
25. श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकरश्री तुकाराम चरित, पृ. 246
26. वही पृ. 116
27. वही पृ. 116
28. वही पृ. 119
29. वासुदेव मुलाटेतुकारामाचे निवडक 75 अभंग, कैलास पब्लिकेशन्स औरंगाबाद, प्रथम संस्करण 1 जुलाई, 1955, पृ. 59
30. वही पृ. 73
31. वही पृ. 36
32. वही पृ. 43
33. प्रा.मा.म. देशमुखशिवशाही, विश्वभारती प्रकाशन नागपुर द्वितीय संस्करण1999, पृ. 57
34. श्री लक्ष्मण पांगारकरतुकाराम चरित, पृ. 405
35. वही पृ.412
36. वही पृ.412
37. वही पृ.377
38. देशबन्धु17 मई, 2010
39. अमरेन्द्र धनेश्वरमन 'संतवाणी' उ दंगले! महाराष्ट्र टाइम्सबेनेट कोलमन् कम्पनी, मुम्बई, आषाढी विशेषांक, जुलाई 2007, विश्वशान्ति केन्द्र (आळंदी) माईर्स एम. आई.टी. पूणे पृ. 66
40. श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकरतुकाराम चरित, पृ. 66
41. डॉ. धर्मवीर भारतीकबीर के कुछ और आलोचक, पृ. 140
42. डॉ. आ.ह. साळुंखेविद्रोही तुकाराम, पृ. 34
43. श्री. लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकरतुकाराम चरित्र, पृ. 128
44. शंकर महाराज खंदारकरतुकाराम महाराज गाथा, अभंग61 भाष्य भाग1, पृ. 16
45. वही अभंग 472, पृ. 1117
46. श्री विनोबा र खुबाई देवस्थानश्री क्षेत्र देहू तुकारामाची अभंग गाथाअभंग क्र. 2854, पृ. 954

समीक्षा-लेख :

एक पुस्तक प्रेमी के संस्मरण

शंकर शरण*

संवेदनशील, खुली दृष्टि और अनुभवी लोगों के संस्मरण और आत्मकथाएं अत्यंत शिक्षाप्रद होती हैं। उस में कोई सचेत पाठक थोड़े ही समय में पूरे जीवन से प्राप्त अनमोल अनुभवों का साक्षात्कार कर लेता है। जिन मूल्यों या निष्कर्षों को पाने के लिए किसी को वर्षों तरह-तरह के रास्तों से गुजरना पड़ा, वह ऐसे साहित्य के अध्ययन से किसी को अनायास उपलब्ध हो जाते हैं। श्री दीनानाथ मल्होत्रा की आत्मकथा 'भूली नहीं जो यादें' ऐसी ही एक मूल्यवान कृति है। हमारे शिक्षा जगत में प्रायः राजनीतिकों या समाज सुधारकों के जीवन और कार्य को शिक्षाप्रद बताया जाता है। किन्तु समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उच्चतर योगदान देने वाले लोग उस देश के युवा वर्ग के लिए प्रेरणा पुरुष होते हैं जिनसे सीख लेनी चाहिए।

श्री दीनानाथ मल्होत्रा को भारत में पेपरबैक पुस्तक क्रांति का जनक माना जाता है। उनके द्वारा स्थापित हिन्द पॉकेट बुक्स एक समय प्रत्येक हिन्दी भाषी शिक्षित घर में एक जाना-माना नाम था। इसने लाखों, संभवतः करोड़ों लोगों तक भारतीय और विश्व साहित्य की अनेक कृतियाँ सस्ते और सुरुचिपूर्ण रूप में उपलब्ध कराई। देश के हर कोने से, जीवन के हर क्षेत्र के लोगों ने हिन्द पॉकेट बुक्स की 'घरेलू लाइब्रेरी योजना' का उत्साहपूर्वक स्वागत किया था। यह 1960 के दशक की बात है। तब की स्थिति में यह देश और हिन्दी जगत के लिए अपने आप में शैक्षिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक बहुत बड़ा अवदान था। किन्तु दीनानाथ जी का जीवन इस से कहीं अधिक विविध और नाटकीय रहा है। इसीलिए उनके संस्मरणों की रोचकता और मूल्यवत्ता बहुत बढ़ जाती है।

+ भूली नहीं जो यादें, ले. दीनानाथ मल्होत्रा, सरस्वती विहार, नई दिल्ली, पृ. 363, मूल्य 195 रु,
* IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016

उनके पिता स्व. राजपाल एक अत्यंत आदर्शवादी, देशभक्त और परिश्रमी व्यक्ति थे। अविभक्त भारत के लाहौर में उनका पुस्तक प्रकाशन का छोटा सा व्यवसाय था। अपने समाज के स्वाभिमान की रक्षा, अभिव्यक्ति स्वतंत्रता तथा एक साधारण लेखक को दिए वचन का पालन करने के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बलि दी थी। यह 1929 की घटना है, जब दीनानाथ जी मात्रा छः वर्ष के अबोध बालक थे। तब से स्कूल, कॉलेज की शिक्षा, घर के लिए आर्थिक काम, उच्चतर अध्ययन की ललक, पठन-पाठन को अपना कार्यक्षेत्र बनाने की साध, श्रीनगर के डी.ए.वी. कॉलेज में राजनीति शास्त्र का सफल अध्यापन, 'पुस्तक और पुस्तकालय के स्वप्न' को पूरा करने के लिए आर्थिक कारणों से उसका सोच-समझकर त्याग, पुस्तक व्यवसाय में नए सिरे से उद्यम, पूरे देश के सामने सर्वोत्तम लेखन की उत्कृष्टतम प्रस्तुति की धुन, अच्छी पुस्तकों के लिए देश भर में जगह-जगह जाकर लेखकों और महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलकर उन से लिखने का अनुरोध, नैतिकता और आर्थिक सफलता का सुंदर मेल, देशसेवा और व्यवसाय का सहज योग, यकायक देश विभाजन की विभीषिका की मार से कंगाल होकर दर-दर की बेकारी, एक बार फिर नए सिरे से दिल्ली में छोटी सी शुरुआत, आदर्शों और व्यक्तिगत संबंधों को आदर देते हुए लाभ-तोष को ठुकराना, परिश्रमपूर्वक फिर से स्वयं प्रकाशन कार्य का आरंभ, हिन्दू पॉकेट बुक्स की स्थापना, गुणवत्ता को प्राथमिकता देते हुए साहसिक लक्ष्यों के लिए प्रयत्न, पहली बार हिन्दी में किसी साहित्यिक प्रकाशन को दस लाख प्रतियों तक बेचने का कीर्तिमान, विदेशी उच्चस्तरीय प्रकाशनों से गंभीरतापूर्वक सीखने का प्रयास, जिस में राष्ट्र-गौरव और स्वभाषा-गौरव की प्रेरणा भी रही, यूनेस्को के प्रतिष्ठित और सक्रिय सलाहकार, एसिया में कई देशों में प्रकाशन और सरकारी नीति में सामंजस्य बिठाने समेत कई समस्याओं का समाधान, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कॉपीराइट संबंधी समस्याओं की गंभीर विवेचना, विश्वस्तरीय पाठ्यपुस्तकों को गरीब देशों के छात्रों को सुलभ कराने का प्रयत्न, देश में पुस्तक पठन संस्कृति को विकसित करने के लिए सतत संघर्ष, पद्मश्री और यूनेस्को का अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक सम्मान... और ऐसी अनेक सफलताएं जो बिना कहीं, कभी सिद्धांतों से समझौता किए अथवा किसी को ठेस पहुँचाए प्राप्त कीं यह सब श्री दीनानाथ मलहोत्रा के उत्तार-चढ़ाव भरे जीवन के कुछ पहलू हैं।

इतनी सफलताओं के बाद भी उनकी आत्मकथा में एक विनम्र, दार्शनिक स्वभाव झलकता है। जो उनके मूलतः विद्वत-शिक्षाशास्त्री मिजाज का संकेत करता है। कार्यक्षेत्र में व्यवसायी होने के बावजूद वे मन से समाजसेवी अध्यापक ही बने रहे, जो वह कभी थे। पूरी पुस्तक में यह भाव सहज व्याप्त है। भूली नहीं जो यादें उस भीषण घटना से ही आरंभ होती हैं, जब उनके पिता राजपाल को एक मजहबी जुनूनी ने मार डाला था। पूरे लाहौर ने 'महात्मा राजपाल' के लिए शोक मनाया था जिसमें हिन्दू

मुस्लिम सभी शामिल हुए थे। वह प्रसंग भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के एक पृष्ठ के रूप में भी दर्ज हुआ है। डॉ. अबेदकर, वीर सावरकर, आदि अनेक महापुरुषों और इतिहासकारों ने उसे अपने लेखन-मूल्यांकन में यथोचित स्थान दिया है। उस प्रसंग में महात्मा गाँधी की भूमिका प्रशंसनीय नहीं थी, इसका भी उल्लेख सावरकर ने किया है। जिन राजपाल की लाहौर में एक सच्चे समाजसेवी के रूप में प्रतिष्ठा थी (उनकी पहली श्रद्धायुक्त जीवनी एक मुस्लिम लेखक ने लिखी थी) उन का गाँधीजी ने अपने दुराग्रह या राजनीतिक कारणों से अशोभनीय, अनुचित शब्दों में उल्लेख किया था।

अपने छात्र जीवन का वर्णन करते हुए तब के लाहौर और पंजाब का एक जीवंत वर्णन प्रस्तुत किया है। सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, व्यवसायिक और राजनीतिक सभी पहलू उस में आ गए हैं। पुस्तक के पाँचवें से सातवें अध्याय 'लाहौर: हिन्दुस्तान का पेरिस', 'सतधरा: पंजाब के ग्रामीण प्रदेश की पहचान' तथा 'डी.ए.वी. कॉलेज: देशभक्तों का राष्ट्रीय संस्थान' में इसकी रोचक झाँकियाँ हैं। उनमें इतिहास की दृष्टि से भी मूल्यवान तथ्य हैं। अविभाजित भारत में लाहौर बहुत बड़ा शैक्षिक, सांस्कृतिक और व्यापारिक केन्द्र था। रोचक बात यह है कि उसका लगभग सारा का सारा नेतृत्व हिन्दुओं और सिखों के हाथ में था। लाहौर में मुस्लिम भी अच्छी संख्या में थे, किन्तु व्यवहारतः वह एक हिन्दू शहर था। जिन्ना ने 1944 में वहाँ मुसलमानों को अपने पक्ष में उभारने में इस तथ्य का भी उपयोग किया था कि लाहौर में अनेक राष्ट्रीय और व्यवसायिक संस्थानों में एक भी मुस्लिम कर्मचारी नहीं था। किन्तु इस से यह निष्कर्ष निकालना मनमानी होगी कि इस का कारण कोई सचेत भेद-भाव था।

वस्तुतः हिन्दू, सिख और मुसलमानों के अपने-अपने, जमे-जमाए क्षेत्र और कार्य थे जिनमें वे लंबे समय से लगे हुए थे। आधुनिक शिक्षा से जुड़े विविध क्षेत्रों में मुस्लिमों का दिखाई न देना उनकी अपनी पारंपरिक, मजहबी जीवनशैली और रुचि से जुड़ी बात भी थी। कम से कम लाहौर में इस का भेद-भाव से कुछ लेना-देना न था। इसीलिए जिन्ना और उनकी मुस्लिम लीग को पंजाब में कभी जन-समर्थन नहीं मिला था। पंजाब का मुस्लिम नेतृत्व हिन्दू-मुस्लिम-सिख सामंजस्य की भावना से परिचालित था। क्योंकि यही वहाँ के जीवन की वास्तविकता थी। पंजाब में मुसलमानों के बीच सर सिकन्दर हयात खाँ और यूनियनिस्ट पार्टी का बोलबाला था जो सांप्रदायिक मतभेदों से ऊपर थी। यह तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राष्ट्रीय नेतृत्व की गलतियाँ, खामख्याली (दीनानाथ मलहोत्रा के शब्दों में, 'हिन्दू व कांग्रेसी नेता सोए रहे') और सर सिकन्दर हयात खाँ का आकस्मिक निधन जैसे कारक थे जिससे अंततः जिन्ना को पंजाबी मुसलमानों पर भी अपनी चलाने में सफलता मिल गई। यद्यपि इस विन्दु पर दीनानाथ मलहोत्रा का मूल्यांकन (अध्याय 11) सम्यक नहीं प्रतीत होता। देश विभाजन और मुस्लिम समस्या के प्रति उनका चिंतन सरसरी और कहीं-कहीं विरोधाभासी

दिखता है। किन्तु यह महत्वपूर्ण नहीं, महत्वपूर्ण वह सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक परिदृश्य है जिसका यथार्थपरक चित्रण पुस्तक में मिलता है।

उस परिदृश्य, और तब की गई सामाजिक, राजनीतिक भूलों की शिक्षा आज के भारत के लिए भी सामयिक है। क्योंकि वह दृश्य और तत्संबंधी राजनीति आज भी भारत के अनेक इलाकों में मौजूद है। उदाहरण के लिए, यह विचारणीय है कि पंजाब के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन में हिन्दुओं और सिखों के वर्चस्व के बावजूद वे कैसे एकाएक सामूहिक संहार के शिकार हुए? जो बचकर निकल सके, वे रातों-रात दर-दर के मजदूर हो गए। ऐसा कैसे हुआ कि सबल, संपन्न, सुशिक्षित होते हुए भी एक पूरा समुदाय अपने घर-देश से बेदखल कर दिया गया? वे क्यों अपनी रक्षा के बारे में बेखबर रहे? देश-विभाजन की घोषणा हो जाने के बाद भी “हिन्दू नेता निश्चित थे कि लाहौर भारत में आएगा। 16 अगस्त को पता चला कि लाहौर तो पाकिस्तान में आ गया है। उसके बाद तो हिन्दुओं का खुला कल्लेआम हुआ। उन्हें मार-मार कर घरों से खदेड़ा गया और लाहौर रेलवे स्टेशन की तरफ भगाया गया कि ‘निकलो यहाँ से, अब हिन्दू यहाँ नहीं रह सकते’।” (पृ. 140-41)। आखिर वे संपन्न, समर्थ हिन्दू और सिख किस भरोसे जी रहे थे? निस्संदेह उन्हें प्रासंगिक इतिहास, राजनीति और तत्संबंधी बाहरी दुनिया के अनुभवों का ज्ञान नहीं था। नहीं तो वे इस तरह औचक मारे नहीं जाते।

वस्तुतः पंजाब विभाजन के उस दारुण प्रसंग से कोई शिक्षा नहीं ली गई। स्वतंत्र भारत के कुछ नेताओं ने उस भीषण त्रासदी में अपनी हिमालयी भूलों की भूमिका छिपाने के लिए जानबूझ कर उसे इतिहास और स्मृति से गायब होने दिया। बल्कि उसके लिए सचेत शैक्षिक नीतियाँ बनाई गई ताकि नई पीढ़ी उस से मूलतः अनजान हो जाए। उस प्रसंग और उससे उपजने वाले ऐतिहासिक प्रश्नों की इरादतन अनदेखी के कारण भी स्वतंत्रा भारत के कश्मीर में फिर वही त्रासदी दुहराई गई, जब कश्मीरी हिन्दू सामूहिक रूप से संहार और निर्वासन के शिकार हुए। यह बार-बार होता रहेगा, यदि कठिन वास्तविकता और अनुभवों से सही सीख नहीं ली जाएगी। यह सीख दीनानाथ मल्होत्रा की पुस्तक में नहीं है, न इस प्रसंग पर उन्होंने कोई विस्तार से विचार किया है। किन्तु भारतीय समाज को उस सीख की खोज स्वयं करनी ही होगी, यदि वह अपने ही देश में ससम्मान और सुरक्षित रहना चाहता है। अन्यथा पंजाब, बंगाल और कश्मीर की कहानी फिर अन्य स्थलों पर भी नहीं दुहराई जाएगी, इसकी कोई गारंटी नहीं। राजनीतिक और वैचारिक भगोड़ापन उस समस्या को गुम नहीं कर देते, जो ऐतिहासिक कारणों से भारतवर्ष के सिर पर सदियों से आन पड़ी हुई है।

बहरहाल, **भूली नहीं जो यार्दे** का बड़ा अंश उन रचनात्मक अनुभवों को समर्पित है जो लेखक को स्वतंत्रा भारत में नए सिरे से पुस्तक प्रकाशन कार्य आरंभ

करने के बाद आधी शताब्दी से भी अधिक लंबे कर्मठ जीवन में हुए। इन अनुभवों में मानवीय स्वभाव की अनेकानेक, बहुरंगी प्रस्तुतियाँ हैं जो उन्हें देश और विदेशों में हुए। उसमें जगह-जगह दार्शनिक निष्कर्षों के संकेत भी हैं जो पुस्तक की साहित्यिक मूल्यवत्ता को बढ़ा देते हैं। उदाहरण के लिए, लाहौर के रिपन प्रेस के मिर्जा और शेख, या जिल्दसाज इब्राहीम की अपने काम के प्रति अप्रतिम निष्ठा उन्हें मिलने वाली रकम के बढ़ने-घटने से नहीं जुड़ी हुई थी। वह तो किसी कर्मनिष्ठ व्यक्ति का स्वभाविक गुण होता है। दीनानाथ जी ने ऐसे अनेक गुणियों का चलते-चलाते वर्णन किया है क्योंकि स्वयं वह भी उसी स्वभाव के थे। उन्होंने बहुत पहले यह तथ्य आत्मसात कर लिया था, “... कीमती मशीनें नहीं, अपितु मशीन के पीछे काम करने वाला व्यक्ति ही श्रेष्ठता लाता है।” (पृ.112)। तथा, “सर्वोत्तम कार्य वही लोग कर सकते हैं जो अपने कार्य के प्रति समर्पित होते हैं तथा जिनमें बढ़िया काम करने की ललक होती है। (पृ. 233)। यह जीवन के हर क्षेत्र में गुणवत्ता भरे कार्य के लिए सच है। लाहौर का वह प्रेस मालिक मिर्जा और जिल्दसाज इब्राहीम ही नहीं, बल्कि तब वहाँ के युवा प्रशासनिक अधिकारी एच.डी. शौरी, लेखक के मित्रा नसीम और विद्यारत्न, नेताओं में सरदार पटेल, पट्टाभि सीतारामैया, गोपीचंद भार्गव, लाला जगतनारायण, सरकारी अधिकारियों में डॉ. के. सी. खन्ना, विदेशी प्रकाशकों में इटली के प्रसिद्ध रिजोली, स्वीडिश बेंगट लासन, लंदन के जॉन एटनबरो तथा उनके पुत्र फिलिप एटनबरो, सर स्टेनले, जापानी शोइची नोमा, इंग्लैंड की साधारण गृहस्थन श्रीमती मिडलटन, एक देहाती किसान द्वारा स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी की स्थापना की कहानी, हिन्दी लेखक आचार्य चतुरसेन, फिल्मकार पृथ्वीराज कपूर, कराची में पाकिस्तानी टैक्सीचालक, आदि आदि अनेकानेक विविध व्यक्तियों से संबंधित नाना प्रकार के संस्मरणों में मानवीय भाव का तत्व ही समान रूप से उभर कर आता है। अमेरिका और जापान के संस्मरणों वाले 21वें अध्याय में भी लेखक ने किसी देश के समाज और लोगों को उन की राजकीय वैदेशिक नीतियों आदि से अलग करके देखने की आवश्यकता बताई है।

इसीलिए मित्र-भाव और सदभाव को लेखक ने बड़ा महत्व दिया है। उन्होंने समझा कि प्रायः लोग अच्छे होते हैं और हमें यह सीखना चाहिए कि उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार करें। निदा फाजली को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है कि किसी को ठीक से जानने-समझने के लिए एक से अधिक बार मिलने की जरूरत होती है : “हर आदमी में होते हैं, दस-बीस आदमी, जिसको भी देखना हो, दो-चार बार देखिए।” इस तरह अनेक निष्कर्ष पुस्तक में जहाँ-तहाँ अनायास मिलते हैं जिसे दशकों के अनुभवों से प्राप्त उपलब्धि के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यथा, “किसी प्रकाशक के लिए सर्वोत्तम उपलब्धियाँ वही होती हैं जो वह बुद्धिजीवियों तथा समाज की विशिष्ट विभूतियों से मिलकर विकसित करता है।” (पृ. 123)। “इस संसार में मूल्य चुकाए

बिना कभी भी अपने आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा को बचाया नहीं जा सकता। आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा ही किसी व्यक्ति की सर्वाधिक मूल्यवान संपत्ति होती है।” (पृ. 171) आदि।

पुस्तकों, लेखकों, प्रकाशकों और दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों के तुलनात्मक अनुभव के बाद दीनानाथ मल्होत्रा का यह निष्कर्ष बहुत महत्वपूर्ण है कि “तकनीकी दृष्टि से हम भले ही पश्चिम से पीछे हों, लेकिन जहाँ तक विचारों और लेखन का प्रश्न है, हमारे लोग किसी से कम नहीं हैं। वास्तव में हमारे पुराने ऋषि, जिन्होंने अध्यात्म और दर्शन की पुस्तकें लिखी हैं, आज भी अपराजेय हैं।” (पृ. 222) यह तथ्य हमारे देश को पुस्तक संस्कृति के विषय में विश्व में प्रथम पंक्ति में लाने की संभावना का संकेत करता है। दुर्भाग्य से हमारे शासक, बुद्धिजीवी और नीति-निर्माता ही इस का कोई महत्व नहीं समझते। सच तो यह है कि अभी तक उनमें हर क्षेत्र में विश्व के उन्नत देशों, संस्थानों के साथ स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा की चाह ही नहीं जगी है। इसीलिए वे ज्ञान, दर्शन, साहित्य और पुस्तक संस्कृति आदि को कभी अपनी चिंता में ही नहीं लाते।

भाषा नीति और पुस्तक नीति पर भी दीनानाथ मल्होत्रा के विचार और निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं। प्रथम प्रधान मंत्री नेहरूजी की तीन बड़ी गलतियों में उन्होंने उन की भाषा नीति को भी जोड़ा है। वैज्ञानिक शब्दों के लिए हिन्दी को अक्षम बताना सही तर्क नहीं था। रूस, जापान, जर्मनी आदि अनेक देश जिन्होंने अपनी भाषा में सब कुछ करना तय किया तो वैज्ञानिक शब्दावली की समस्या अपने-आप सुलझ गई। वही यहाँ भी होता किन्तु एक गलत फैसले से हमारा देश, विशाल आबादी की दृष्टि से ‘अशोभनीय’ स्थिति में पड़ गया है। लेखक ने डॉ. रघुवीर द्वारा संस्कृत पर आधारित वैज्ञानिक शब्दावली का मार्ग दिखाने को सही ठहराया है। उसे इसलिए ठुकरा दिया गया क्योंकि “यहाँ तो अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति आस्था नहीं थी। पश्चिम की सभी बातों की वरीयता पर अटूट विश्वास बन चुका था।” यह बात अलग है कि हमारे युवा हिम्मत करके अंग्रेजी में भी विलायत वालों को पछाड़ रहे हैं, “किंतु देश की अधिकांश जनता तो एक अलग ही श्रेणी की बन गई है।” (पृ. 201) यह बात वही व्यक्ति देख सकता है जिसे अपने देश की जनता की सांस्कृतिक स्थिति से सहानुभूति हो। केवल आर्थिक सूचकों को महत्व देने वाले इस विन्दु की गंभीरता नहीं समझ सकते। उस जनता में बड़े उद्योगपति और व्यापारी भी हैं जो अंग्रेजी के कारण तरह-तरह की कठिनाई महसूस करते हैं। फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स की एक मीटिंग की घटना के उदाहरण (पृ. 202) से यह बात महसूस की जा सकती है।

पूरे देश में, विशेषकर ग्रामीण भारत में पुस्तक संस्कृति के प्रति रुचि और प्रसार के कार्य संबंधी 22 वाँ अध्याय भी आँखें खोलने वाला है। इस से पुस्तक पाठन के प्रति इस प्रचलित विचार का खंडन होता है कि लोग पढ़ना नहीं चाहते। दीनानाथ

मल्होत्रा का अनुभवजन्य निष्कर्ष है कि देश भर में पढ़ने में रुचि रखने वालों को पुस्तक उपलब्ध ही नहीं होती (पृ. 291)। “यदि पुस्तक रोचक हो और उसका उचित रीति से वितरण हो सके, तो भारत में भी खरीदकर पुस्तक पढ़ने वालों की बहुत बड़ी संख्या है।” (पृ. 344)। इस सच्चाई को जानते हुए भी प्रकाशकीय और सरकारी नीतियाँ इस के प्रति उदासीन रही हैं। नेताओं और प्रकाशकों की संकीर्ण दृष्टि, अंग्रेजियत का प्रभाव तथा स्वार्थपरता इस के मूल कारण हैं।

अब तो थोक सरकारी खरीद को ही केंद्र बनाकर पुस्तकें छापने, और संबंधित विभाग के अफसरों, क्लर्कों से लेकर पुस्तकालयाध्यक्षों को बड़ी-बड़ी रकमों की रिश्तखोरी के सहारे सालाना मोटी कमाई के आसान प्रचलन के कारण पूरा प्रकाशन घोटाले और हेरा-फेरी के धंधे में बदल गया है। अच्छी पुस्तकें और अच्छे प्रकाशक एकदम पीछे पड़ गए हैं। विश्वविद्यालयों और मीडिया में वैचारिक गिरोहबंदी, तथा वामपंथी लपफाजों की षड्यंत्रकारी एकजुटता से विचारधारात्मक दुराग्रह वाली और एक-दूसरे की लिखी पुस्तकों को प्रश्रय देने तथा श्रेष्ठ साहित्य की अनदेखी ने स्थिति को और बिगाड़ने का काम किया है। सामान्य पाठकों, बुक स्टॉलों और पुस्तक दुकानों की चिंता किसी को नहीं रह गई है। अच्छे, निष्ठावान प्रकाशक, लेखक और पुस्तकें अपने दिन गिन रहे हैं। हिन्दी प्रकाशन की स्थिति तो यही प्रतीत होती है। यह बड़ी गंभीर स्थिति है। संभवतः सक्रिय व्यवसाय से अवकाश ले लेने के कारण इन विन्दुओं पर दीनानाथ मल्होत्रा का ध्यान नहीं गया है। अन्यथा 1962 में आरंभ हुई उनकी ऐतिहासिक ‘घरेलू लाइब्रेरी योजना’ की अदभुत सफलता वाले समय से समय-चक्र पूरी तरह उलट गया दिखता है। आज ग्रामीण पाठकों की कौन कहे, शहरी हिन्दी पाठकों तक की चाह, भावनात्मक और मानसिक भूख की किसी को चिंता नहीं रह गई है।

इस दुःखद अवस्था में यह आश्वस्त करने और प्रेरणा लेने की बात है कि युवावस्था से ही ‘पुस्तक और पुस्तकालय’ का स्वप्न देखने वाले दीनानाथ मल्होत्रा ने आज 87 वर्ष की आयु में भी, “मैंने इस मोर्चे पर संघर्ष करना अभी नहीं छोड़ा है और आशा करता हूँ कि भारत जैसे देश को वास्तव में पुस्तक-समाज में बदलने के लिए पुस्तकों को देश के कोने-कोने और गाँव-गाँव तक पहुँचाना होगा।” (पृ. 292)। ताकि फर्नीचर, रसोईघर आदि की तरह अच्छी पुस्तकें भी हर घर के लिए आवश्यक उपादान हों। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे और इस संघर्ष को सफल बनाए ताकि हम और हमारा देश भी गौरवान्वित हो।

एक महती संस्कृति का धनी-भारत

ब्रजलाल उनियाल*

कौन कहता है कि बापू शत्रु थे विज्ञान के? वे मनुज से मात्र इतनी बात कहते थे। रेल, मोटर या कि पुष्पकयान चाहे जो रचो, पर सोच लो आखिर तुम्हें जाना कहां है?

रामधारी सिंह दिनकर

दिनकर की ये झकझोरने वाली पंक्तियाँ आज और भी अधिक समीचीन जान पड़ती हैं, क्योंकि आज विज्ञान जहाँ वरदान सिद्ध हुआ है उससे कहीं अधिक वह कुछ लोगों के हाथ में पड़कर प्रलय का अलमबरदार होने का खतरा बन रहा है। हमें इस बात पर गर्व है कि भारत आज भी विज्ञान के विध्वंसकारी प्रयोग के विरुद्ध वचनबद्ध है और अपनी प्राचीन परम्परा के अनुसार उसका केवल कल्याणकारी प्रयोग कर रहा है।

संसार में सबसे गरीब देशों में से एक होने के बावजूद, इस युग में भी हमारे देश ने विश्व को जगदीशचन्द्र बसु, डॉ. चन्द्रशेखर वेंकटमन, डॉ. मेघनाद साहा, डॉ. हरगोविन्द खुराना जैसे विश्व विश्रुत वैज्ञानिक दिए हैं, लेकिन हम अपने पूर्वजों के भी ऋणी हैं, जिन्होंने हमारे देश में विज्ञान की स्वस्थ परम्परा की नींव डाली और कहा कि कोई भी काम करो पर सोच लो कि “नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित” (महाभारत)। आदमी की भलाई से अच्छा कोई काम नहीं है।

आज का पिता कल है जिसने ‘आज’ को जन्म दिया है, इसलिए सिंहावलोकन कर देखें तो सहीहम जो आज उगल रहे हैं, उसके पूर्ववर्ती कर्म कैसे थे? वस्तुतः भारत का दुर्भाग्य रहा कि उच्चतम आदर्शों का वारिस भारतवासी की ‘कथनी’ और ‘करनी’ में आकाश पाताल का अन्तर रहा। वेद कहता रहा ‘साथ-साथ’ चलोसाथ-साथ

* ब्रजलाल उनियाल, पूर्व संपादक, ‘खेती’, ‘वणिका’, कांग्रेस शती स्मृति अंक-1985; ‘श्री हरिकथा’ के सह-सम्पादक (विशेषांक : प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, देवराहा बाबा, भाई हनुमान प्रसाद पोद्दार)। पता: 23/204 ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट्स, दिल्ली-110096।

बोलो सभी लोग एक समानता का मन्त्र सीखो’कह तो दिया पर भारतवासियों ने वर्णभेद का ऐसा चक्कर चलाया कि स्त्री शूद्रोनाधीयताम्’ स्त्री शूद्रो को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं। दूसरा मन्त्र था ‘जन्मना जायतो शूद्रो’ जन्म से सभी शूद्र हैं। पर करनी क्या थी? इन्ही विषमताओं ने (अहमद शाह अब्दाली एक उदाहरण) आक्रमणकारियों को भरपूर फायदा दिया। अरे इन पर फतह पाना कितना आसान है जिनमें दस आदमी और दस चूल्हे हैं। इससे पहले जब मेगस्थनीज ने यूनान से भारत की तुलना की तो दाँतो तले ऊँगली दबा गया ‘इतना स्वर्गीय नगर-लोग घरों में ताले भी नहीं लगाते इतनी समृद्धि!

प्राचीन वाङ्मय-विविधता

ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम ग्रन्थ है। यानी ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पहले भी वेदों में मासों और दिनों का वर्णन इस प्रकार है—‘सत्यात्मक आदित्य का बारह अरों (खूंटो) से युक्त चक्र स्वर्ग के चारों ओर बार-बार भ्रमण करता है और कभी भी पुराना नहीं होता। अग्नि इस चक्र में पुत्रस्वरूप सात सौ बीस (360 दिन और 360 रात) निवास करती हैं।’ किन्तु जैसा कि सभी जानते हैं कि वर्ष में 365 1/4 दिन होते हैं, ऋग्वेद ने इसका समाधान यों किया, “जो व्रतावलम्बन करके अपने-अपने फलोत्पादक बारह महीनों को जानते हैं उत्पन्न होने वाले तेहरवें मास को भी जानते हैं।...” (रामगोविन्द द्विवेदी व गौरीनाथ झा का अनुवाद)

तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थान पर सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, संवत्सर, ऋतु, मास, अर्धमास, अहोरात्र, पौर्ण मास आदि शब्दों का पाठ एक ही स्थान पर मिलता है।

आज के वैज्ञानिक युग ने एक चंद्रमास में 21.5305 दिन ठहराए हैं। जबकि वेदांत ज्योतिष के अनुसार, उसमें 29.516 दिन होते हैं। जरा सोचिए कि हजारों वर्ष पूर्व भी हमारे पूर्वजों ने गणना में कितनी निकटतम शुद्धता पाई थी।

ऋग्वेद में पृथ्वी और सूर्य की परस्पर आकर्षण शक्ति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—‘उक्षादधार पृथिवीम्’ अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति ने पृथ्वी को धारण किया है।

एक समय था जबकि यूरोप के लोग कपास को पेड़ों पर उगने वाली ऊन कहा करते थे। उस समय भी भारत में सूती कपड़े कपास से ही तैयार किए जाते थे। वेदों के एक ऋषि हैं गृत्समद। आचार्य विनोबा भावे ने अपने शोध के आधार पर बताया है कि गृत्समद यवतमाल जिले के कलम्ब गाँव के रहने वाले थे। लैटिन शब्द गौसीपियम (कपास) इसी संस्कृत शब्द से बना है। गृत्समद ऋषि ने ही कपास का पता लगाया था।

प्रसिद्ध विद्वान मोनियार विलियम्स लिखते हैं—‘हिन्दुओं ने खगोल विज्ञान, गणित, बीजगणित, वनस्पति विज्ञान और औषध में काफी प्रगति की, व्याकरण में तो

उनकी प्रगति की, श्रेष्ठता का, उल्लेख करना अनावश्यक है और यह सब उस समय था जब यूरोप की प्राचीनतम जातियों में भी इनमें से कुछ विज्ञान विकसित नहीं हुए थे।”

ईसा से लगभग पाँच-छह सौ साल पहले बने पाणिनि व्याकरण में ऐसे शब्द मौजूद हैं, जिनसे स्पष्ट है कि हमारे पूर्वजों की विज्ञान में कितनी पैठ थी। ‘पादप’ शब्द उसमें मौजूद है। पादप का अर्थ है कि पैरों यानी जड़ों से पीने वाला। यानी पेड़ नाइट्रोजन, फासफोरस, पोटेश आदि तत्व पीते हैं, खाते नहीं। इस बात का उल्लेख यूरोप के साहित्य में सैकड़ों साल बाद हुआ है। उन्नीसवीं सदी में मारकोनी तथा बोस जैसे वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि ध्वनि नष्ट नहीं होती। पाणिनी ने अक्षर नाम इसीलिए दिया कि बोली वाली ध्वनि क्षय नहीं होती। संसार की शायद ही कोई ऐसी भाषा हो, जिसमें अक्षर, पादप, आकाश जैसे सर्वथा विज्ञान-सम्मत शब्द हों। प्रत्येक शब्द का युक्तिसंगत निर्माण हुआ है, अटकलबाजी से काम नहीं लिया गया।

संस्कृत साहित्य-विविधता

संस्कृत साहित्य की प्राचीनता तथा उत्कृष्टता पर दो शब्द लिखना अप्रासंगिक न होगा। काव्य-समीक्षा व सूक्ष्म विवेचन में दंडी (6वीं शती), भामह (7वीं शती) मम्मट (12वीं शती), विश्वनाथ (14वीं शती) प्रमुख हैं। कितनी विचित्र बात है कि सबसे पुराना नाटक जो अश्वघोष ने लिखा था, वह मध्य एशिया के मरुस्थल में पाया गया। पंत्रतन्त्र की कहानियों का 6वीं शती में तत्कालीन फारसी (पहलवी) में अनुवाद हुआ जहां से यह दुनिया भर में, बाद में अरबी, हिब्रू, लैटिन आदि में अनूदित हुई। आठवीं सदी में गुणाढ्य पंडित ने “बृहत्कथा” लिखी। कम्बोडिया में संस्कृत में लिखी एक प्रशस्ति में उक्त पुस्तक का उल्लेख है। मूलतः यह पुस्तक प्राकृत में लिखी गई थी। ‘ललित विस्तार’, में 86 कलाओं, “कामसूत्र” में 64 और शुकनीति में 84 कलाओं का उल्लेख है जिनमें गीत, नृत्य, वाद्य, रस, वैद्यक, सामुद्रिकी आदि आदि हैं। भरहुत में ईसा से 2000 वर्ष पूर्व अनेक कल्पवल्लियों का पता लगा है जिनमें वस्त्र, पुष्प, मोती, फल आदि लटके हुए चित्रित हैं। (आचार्य हजारीप्रसादी द्विवेदी)

अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों में भीम बैठक, पंचमढ़ी, मिर्जापुर, आदि में 10-15 हजार साल पुराने शैलचित्र हैं। पाणिनी की अष्टाध्यायी में ग्रन्थलिपि और यवनानी का उल्लेख है। (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

खगोल-विज्ञान

महाभारत में तो ज्योतिष की जानकारी यत्र-तत्र अनेक पर्वों में भरी पड़ी है। भीष्मपर्व के अ.2 और अ.3 में ग्रहणों का वर्णन है। महाभारत में लोगों को ग्रहणों के विषय में विशद जानकारी थी।

499 ई. में आर्यभट्ट लिखित ज्योतिष ग्रन्थ मिलता है। *तन्त्र* नामक ग्रन्थ भी आर्यभट्ट का लिखा है। उनके बाद वराहमिहिर हुए, जिनकी प्रसिद्ध रचना ‘पंच-सिद्धान्तिका’ है। इसमें लेखक ने अपना सिद्धान्त नहीं दिया, अपितु उस समय में प्रचलित पाँचों सिद्धान्तों यानी पौलिश, रोमक, वशिष्ट, सौर और पैतामह का वर्णन है। वराहमिहिर ने लिखा है कि पौलिश और रोमक के व्याख्याकार लाटदेव हैं...” वराहमिहिर की मृत्यु 587 ई. में हुई। उनके बाद सन् 598 ई. में ब्रह्मगुप्त हुए। उनकी रचना ‘ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त’ और *खंड खद्यक* हैं। भास्कराचार्य ने अपनी रचना ‘सिद्धान्त शिरोमणि’ सन् 1150 में तैयार की।

आर्यभट्ट से पहले के ज्योतिषियों के ग्रन्थ अब लुप्त हो गए हैं, परन्तु उनका उल्लेख मिलता है। महाभारत में लिखा है कि गर्ग महर्षि राजा पृथु के ज्योतिषी थे। उनकी गार्गी संहिता अलभ्य है। आर्यभट्ट पहले आचार्य हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थ में अंकगणित, बीजगणित, और रेखागणित के प्रश्न दिए हैं। उन्होंने कई कठिन प्रश्नों को 30 श्लोकों में भर दिया है। एक श्लोक में बताया गया है कि यदि वृत्त का व्यास 2000 हो, तो उसकी परीधि 6283 होगी।

प्रो. गोरखप्रसाद का कहना है कि यदि आजकल की परिपाटी से विस्तारपूर्वक लिखा जाए तो इन 30 श्लोकों से भारी-भरकम ग्रन्थ बन जाएगा।

गोलपाद ‘आर्यभट्ट का अन्तिम अध्याय है। इसमें 50 श्लोक हैं। चौथा श्लोक बताता है कि सूर्य से कितने अन्तर पर चन्द्रमा, मंगल, बुध आदि दिखाई देते हैं। पाँचवें श्लोक में कहा है कि पृथ्वी, ग्रहों, नक्षत्रों का आधा गोला अपनी ही छाया से अप्रकाशित है और शेष आधा सूर्य के सम्मुख होने से प्रकाशित है। श्लोक 9 में बताया गया है कि जैसे चलती नाव में बैठा आदमी किनारे के स्थिर पेड़ों को उल्टी दिशा में चलता देखता है वैसे ही लंका (भूमध्य रेखा) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर चलते दिखाई पड़ते हैं। श्लोक 11 में सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) का आकार बताया गया है। श्लोक 37 से आगे ग्रहणों की गणना की रीति दी गई है।

श्री प्रो. नलिनो ने ‘इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एंड एथिक्स’ में लिखा है कि ज्योतिष के प्रथम वैज्ञानिक मूलांकों के लिए अरब भारत का ऋणी है। सन् 771 में भारत की एक विद्वतमंडली बगदाद गई थी, जिसने अरबों को ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त का परिचय कराया। इसी से उन्होंने अपने ज्योतिष की सारणियां तैयार कीं।

भारत की अप्रतिम गरिमा के विषय में अमीर खुसरो ने अपनी किताब ‘नूहसिपहर’ में दस तर्क प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से चौथा तर्क यह है : इल्मे हिन्दसा (अंक विद्या)अंकों के लिखने का ढंग, जिसका उदाहरण संसार में कहीं नहीं मिलता। शून्य को ही लीजिए। यह मात्र एक चिह्न है, किन्तु उसमें कितने रहस्य छिपे हैं। गणित, ज्योतिष और ज्यामिति (रेखागणित) तथा अन्य दूसरे विज्ञान इसके ऋणि हैं।

शून्य के अभाव में तो इन विज्ञानों का अस्तित्व ही न रह जाता। विश्व इसके लिए भारत का ऋणि है।”

परमाणु

वैशेषिक दर्शन में कणाद ने ईसा से सैकड़ों साल पहले कहा है कि भौतिक जगत् शाश्वत तथा अनश्वर परमाणुओं से विकसित हुआ। इस जगत् का आदि कारण ब्रह्म नहीं, वरन् शाश्वत परमाणु हैं जिनका निर्माण किसी ने अनिवार्यतः नहीं किया। परमाणुओं में चूँकि गतिशील होने और एक-दूसरे से जुड़ने और मिश्रित होने की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है, अतः वैशेषिक दर्शन ने किसी बाहरी अभिकरण या अदृष्ट शक्ति की जरूरत नहीं स्वीकारी जो संसार की उत्पत्ति की प्रथम प्रेरणा प्रदान करे। समवाय ही वह सिद्धान्त है जो परमाणुओं को एक-दूसरे से सम्बद्ध करता है, जिसमें विभिन्न संयोजक उत्पन्न होते हैं। यह जगत् परमाणुओं से विकसित हुआ है। यह ऐसी विभिन्न वस्तुओं का विराट योग है जो समय और अवकाश में एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती है।

विज्ञान में सप्तर्षि का योगदान

(निम्न तीन प्रकरण का आधार देवराहा बाबा के प्रवचन हैं)

ये जो अत्रि, कश्यप, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज, वशिष्ठ और विश्वामित्र सात ऋषि हैं, इनका विज्ञान के क्षेत्र में बड़ा योगदान है। ऋग्वेद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अथर्वण द्वारा यन्त्र प्रक्रिया से उत्पन्न अग्नि का विश्वामित्र ऋषि ने मन्थन-उपकरण निकालकर पोषण किया था। ऋग्वेद की 501 ऋचाएँ विश्वामित्र से सम्बन्धित हैं।

विज्ञान में दीर्घतमस

महर्षि दीर्घतमस को वैदिक संवत् का आविष्कर्ता माना जाता है। वे ममता के पुत्र थे और उचथ्य के शिष्य थे। उचथ्य अंगिरस के शिष्य थे। संवत्सर के विज्ञान में वर्ष, उसकी गणना, ऋतु, मास, दिन, इत्यादि सम्मिलित हैं। विभिन्न यज्ञों के सम्बन्ध में इनके विभिन्न नाम आते हैं। इस प्रकार दीर्घतमस बड़े भारी वैज्ञानिक हुए, जिन्होंने काल का विभाजन बड़े वैज्ञानिक ढंग से किया था। नक्षत्रों का अनुसन्धान वैदिक काल में हो गया था। ऋग्वेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद में नक्षत्र शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। अथर्ववेद में नक्षत्रों की गणना भी है।

गार्ग्य का नक्षत्र ज्ञान

नक्षत्र सम्बन्धी सूक्त गार्ग्य ऋषि से सम्बद्ध है। ऋग्वेद में नक्षत्रों का वर्णन मिलता है। नक्षत्र शब्द का प्रयोग भी बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है। नक्षत्रमंडल, तारा

तथा तारापुंज। अचीगर्त का पुत्र शुनःशेष तारा विज्ञान का पंडित था। ऋग्वेद के कई सूक्तों से शुनःशेष का सम्बन्ध है। पुराणों में शुनःशेष की अनेक कथाएँ हैं। तारामंडल के प्रेक्षक विद्वानों में और भी कई विज्ञानों की गणना है। वेद में नक्षत्र के किए स्तु शब्द का प्रयोग है। शायद इसे ही अंग्रेजी में स्टार कहने लगे हैं।

नक्षत्र विज्ञान की भाँति ग्रह विज्ञान के भी भारत में अनेक पंडित हुए हैं। बृहस्पति ग्रह के प्रेक्षक महर्षि वामदेव थे तथा शुक्र के प्रेक्षक थे महर्षि वेन भार्गव। वास्तव में वेन और भार्गव दोनों ही शब्दों का प्रयोग शुक्र के लिए हुआ है। पाश्चात्य परम्परा में वेन शब्द को अपनाकर वेन को वीनस कहने लगे।

गणित में भारतीयों ने कुछ क्रांतिकारी अविष्कार किए थेविशेष रूप से शून्य, दशमलव प्रणाली, ऋण के चिह्न और बीजगणित में अज्ञात राशियों के लिए अक्षरों का प्रयोग। अरब वालों ने भारत से अंक सीखे और उन्हें हिन्द के नाम से हिन्दसा कहा गया तथा अरब से यह अंकगणना यूरोप में पहुँची, जहाँ वे लोग इसे ‘अरेबिक न्यूमरल्स’ कहने लगे। इस प्रकार आज हमारे संविधान में जो इंटरनेशनल न्यूमरल्स को मान्यता दी गई है, वह भारत की ही देन है।

यूरोप में प्राचीन समय में गणना का बड़ा जटिल तरीका अपनाया जाता था। फिनिशियन रीति में नौ लिखने के लिए नौ खड़ी लकीरें खींची जाती थीं, दस लिखने के लिए सीधी रेखा खींचकर उसे अन्त में नीचे मोड़ दिया जाता था। यजुर्वेद संहिता (अध्याय 17 मन्त्र 2) में दस अरब तक की संख्या का उल्लेख है।

ईसा से सौ साल पहले बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तर में 10⁵² (अर्थात् 10 को 52 बार गुणा करते जाइए 10 की 52वीं घात) तक की गणना (तल्लाक्षण) का उल्लेख है जबकि यूनानी लोगों की गणना दस सहस्र तक थी। आर्यभट्ट ने वर्गमूल निकालने की जो रीति सन् 499 में निकाली थी, वह यूरोप में पन्द्रहवीं सदी में पहुँची। (देखिए-केटेनिया 1546)। इसी प्रकार घनफल निकालने की रीति आर्यभट्ट से भी पहले मौजूद जान पड़ती है। आर्यभट्ट ने पाई यानी 22/7 का मान 3.1416 दिया है जो कि काफी शुद्ध है।

यूनान के प्रसिद्ध ज्यामिति शास्त्री पाइथागोरस को यह श्रेय दिया गया कि उसने ही यह पता लगाया है कि समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग बराबर होता है दोनों भुजाओं के वर्ग के जोड़ के। बौधायन और आप स्तम्ब ने अपने शुल्ब-सूत्रों में इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख किया है। कहा जाता है कि शुल्ब-सूत्र की रचना ईसा से लगभग 800 साल पहले हुई, यानी पाइथागोरस से भी बहुत पहले। त्रिकोणमिति में भी भारत ने ही ज्या; कोटिज्या और उक्कमज्या आविष्कृत की थी।

सूत्र-पद्धति

प्राचीन समय की सूत्र-पद्धति को पढ़कर तो दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. गोरखप्रसाद लिखते हैं कि दो पंक्तियों के एक सूत्र में सत्ताइसों नक्षत्र एक विशेष क्रम में इंगित किए गए हैं। उस श्लोक में कोई नक्षत्र किस स्थान में आता है, इसे गिनकर तुरन्त जाना जा सकता है कि जब सूर्य उस नक्षत्र में रहता है तो पूर्णिमा या अमावस्या के क्षण नक्षत्र के आदि बिन्दु से सूर्य कितना हटा रहता है। 27 अक्षरों को इस प्रकार चुनना कि उससे बिना किसी प्रकार की दुविधा के 27 नक्षत्रों का पता चले, फिर उन्हें उस क्रम में रखना जो गणना के अनुसार प्राप्त होता है और उनसे एक श्लोक बनाना सूत्र-कला से अवश्य ही आश्चर्यजनक निपुणता है। उदाहरण के लिए ज्यौ-अश्विनी

2-द्रा = आर्द्रा

18-मृ = मृगशिरा

21-पः = अपः

27-ष्ठा = श्रविष्ठा

एक और उदाहरण, आर्यभट्ट ने 'ख्युघृ' लिखकर चारों युगों के 43,20,000 वर्षों को इस प्रकार बताया है :

ख-2, य-30, ख्य-32

उ-100², ख्यु-32,0000

घ-4, ऋ-100³,

घृ-40,00,000

अर्थात् ख्युघृ-43,20,000 वर्ष

ये जटिल सूत्र आज भी वैज्ञानिकों को अचम्भे में डालते हैं। कुछ बातें जो आज के लोगों के लिए पहेली बनी हुई हैं, उनमें एक है महर्षि वार्कली का अहोरात्र यानी चौबीस घंटों का इस प्रकार विभाजन :

15 स्वेदान = 1 लोमगर्त

15 लोमगर्त = 1 निमेष

15 निमेष = 1 अन

15 अन = 1 प्राण

15 प्राण = 1 इदम्

15 इदम् = 1 एतर्हि

15 एतर्हि = 1 क्षिप्र

15 क्षिप्र = 1 मुहुर्त

30 मुहुर्त = 1 अहोरात्र

अर्थात् पूरे दिन (24 घंटे) को 76 अरब, 88 करोड़, 57 लाख, 18 हजार, 750 स्वेदायन में बाँटा गया है। अर्थात् सेकेंड का भी कई लाखवाँ भाग। इस सूक्ष्म गणना का रहस्य कौन बताएगा? क्या यह कोई बुद्धिविलास था अथवा कुछ शोधों पर आधारित परिणाम? इन बारीकियों का रहस्य आज समझ से बाहर की बात है।

अहोरात्र शब्द (अ और त्र का लोप करके) को होरा कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि कालान्तर में यही होरा शब्द आवर बन गया।

चिकित्सा

सुश्रुत और चरक के नाम तो हमारे चिकित्सा शास्त्र में अविस्मरणीय हैं। उन्होंने बीमारियों के भेद-उपभेद, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन, चिकित्सा, उपचार आदि का तो विस्तृत विवरण दिया ही है पर मानव-मूल्यों को उससे भी ऊँचा रखा। उन्होंने आयुर्वेद के विद्यार्थियों में इन गुणों का होना वांछनीय बताया है शान्त स्वभाव, सौजन्य, युक्तिसंगति, स्मरणशक्ति, आडम्बरहीनता, अध्ययनशीलता, सर्वभूत हितभाव, विज्ञान प्रदर्शन, मृदु भाषण। क्या आज के डॉक्टरों को भी ऐसा ही पढ़ाया जाता है? सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा में प्लास्टिक सर्जरी का उल्लेख किया है। अब यह सर्वसम्मत धारणा है।

'विषं विषस्यौषधम्' जहर की दवा जहर है। चिकित्साशास्त्री कुर्ज पोलेक ने अपनी पुस्तक *द हीलर्स, द डॉक्टर, दैन एंड नाउ* में लिखा है कि उक्त सूत्र के आधार पर ही टीके का आविष्कार हुआ। चेचक के निवारक टीके का चलन 11वीं सदी में चीन में था जो कि जाहिर है, भारत की देन था।

महाभारत में अनेक शास्त्रों का उल्लेख मिलता है। हाथ से चलाने वाले हथियारों को अस्त्र (जैसे प्रक्षेपास्त्र) कहा जाता था। अनेक बाण उस समय प्रचलित थे, जैसे आग्नेयविस्फोटक बाण था, जो आग लगा देता था। पर्जन्य बाण आग्नेय के असर को समाप्त कर बारिश करता था। वायव्य तूफान पैदा करता था। तोमर बाण की शक्ति लोहे का बना होता था, इसका धड़ लकड़ी का होता था। नीचे की ओर पंख जैसे होते थे और उनसे यह उड़ता था। यह लाल रंग का होता था और लगभग डेढ़ गज लम्बा होता था। पाश तारों का बना जाल होता था। ऋष्टि तलवार जैसा अस्त्र। गदा, मुगदर आदि होते थे। तोप जैसा शतघ्नी होता था जिससे एक बार में लगभग 100 व्यक्ति मारे जा सकते थे। भुशुण्डी बंदूक जैसा हथियार था। कर्णी बाण आँतों में घुसकर आँतें निकाल देता था। गवास्थी, गजस्थी, कंकमुख, कपिश आदि अनेक प्रकार के बाण होते थे। महाभारत में विमान का भी उल्लेख है।

लगभग 75 वर्ष पूर्व बस्ती (उ.प्र.) में प्रज्ञाचक्षु पं. श्री धनराज रहते थे। उनका कहना था कि *धनुर्वेद*, *धनुष चन्द्रोदय* तथा *धनुष प्रदीप* तीनों प्राचीन ग्रन्थ कंठस्थ थे। दो में से प्रत्येक में साठ-साठ हजार श्लोक बताए जाते हैं। इनमें परमाणु शब्द का

उल्लेख बताया जाता है। खेद है कि इन ग्रन्थों का खुलासा प्राप्त नहीं है और न इसमें वर्णित शस्त्रों की निर्माण विधि का ही पता है।

रिसर्च स्कालर पं. भगवत् दत्त जी ने कुछ प्राचीन विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों का पता लगाया था। कुछ के नाम यहाँ गिनाए गए हैं—धनुर्वेद, जमदग्नि-कृत धनुर्वेद (व्यूह शास्त्र, रथसूत्र, अश्वसूत्र) 'शालिहोत्र' (घोड़ों का चिकित्साशास्त्र), यन्त्रसूत्र, कृषिशास्त्र, पाशुपाल्य शास्त्र, तक्ष शास्त्र, गौ वैद्य, मानशास्त्र, (तौल आदि से सम्बन्धित), शिल्पशास्त्र, सूर-शास्त्र।

आइए, 'अब भावी कल की ओर बढ़ें। यदि हम बच्चों को शिक्षा में नैतिकता का पाठ शुरू से ही जोड़ दें तो वे राष्ट्रीयता और नैतिकता के अटूट सम्बन्धों को समझ सकेंगे। जरा ध्यान दीजिए—जापान, सिंगापुर और दक्षिण कोरिया पर। वे इतने समृद्ध और अमीर हैं कि उनसे ईर्ष्या स्वाभाविक है। हालाँकि ये देश हमारे देश के प्रान्तों से भी छोटे हैं। जिस दिन कल का नजरिया स्कूल में ही राष्ट्रीयता व नैतिकता का पाठ हृदयंगम करने लगेगा, फिर भारत को शीर्षस्थ बनने से कोई नहीं रोक सकेगा।

*भलि भारतभूमि भले कुल जन्म समाज सरिर भलो लहि वै।
करषा तजि कै परुसा बरसा हिम मारुत घाम सदा सहि कै।
जो भजै भगवान् सयान सोही तुलसी हठि चातक ज्यों गहि कै।
न तु और सबै विस बीज बए हर हाटक कामदुहा महि कै।
(लगभग 400 साल पूर्व-गोस्वामी तुलसीदास लिखित)*

(साभार: अजारीगी अग्नि शिखाएँ)

भावार्थ : भारत भूमि में जन्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। इस जन्म का फल उस भक्ति में है जहाँ भगवान के सामने सब मनुष्य बराबर हैं। ऐसे देश में जन्म लेकर जो ईश्वर की भक्ति न करे वह मानो सोने के हल में कामधेनु जोतकर विष के बीच बोता है।

आइए, अनागत के प्रति समर्पित हों और अतीत से प्रेरणा लें। भारत की महती संस्कृति हमें उत्थान के लिए ललकार रही है।

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-सृजन' का जुलाई-सितंबर 2010 अंक पढ़ा। पूरा का पूरा अंक ही उम्दा बन पड़ा है। शंकरशरण का 'माओवाद का अंध-समर्थन' तो आँखें चौड़ी कर देता है; उसी तरह से मृगाल पाण्डे का 'आओ सम्पादक सम्पादक खेलें' भी है। राम-बहादुर राय का 'ताकि करतूतें छिपी रहें', प्रकाश सिंह, रामेश्वर मिश्र पंकज के लेख भी गंभीर हैं।

मैं तो कहूँ कि, अंक में लगभग सवा सौ पृष्ठों की सामग्री आपने पाठकों को मात्र बीस रुपयों में ही दे दिया है, जब कि यही सब कुछ यदि पुस्तकाकार में होता तो इसका मूल्य दो सौ रुपल्ली से कम तो न होता और तब वह साधारण पाठकों की पहुँच से बहुत दूर ही कहीं रह जाता।

शिवदयाल काबरा, देरगाँव- 785614 (असम)।

प्रिय भाई कुमार, "चिन्तन-सृजन" जून अंक मिला। पत्रिका का रूप क्लासिक है कुछ विद्वानों के लिए। चिन्तन हिमालय पर ऋषि मुनि करते हैं। सृजन समाज में रह कर तुलसी, सूर, कबीर, मीरा करते हैं। पत्रिका में कहानी कविता आलेख आदि दें ताकि वह सबों के लिए पठ्य हो। आपको पाठक ग्राहक मिलें।

- कमला प्रसाद बेखबर, प्रोफेसर कालोनी, फारबिसगंज, बिहार।

आपकी दोनों पत्रिकाएँ मेरे लिए प्राणसंचारिणी हैं। उनको पढ़ना कठिन है। कारण चिन्तन प्रधान, शोधपूर्ण लेख। परन्तु सीखना है तो पढ़ना भी है। पढ़े बिना मन मानता नहीं है। चिन्तन-सृजन की पहली पाठकीय प्रतिक्रिया में प्रो. शाह ने कालिदास के "परप्रत्यादेय बुद्धि को मूढ़ बुद्धि" कहा है। पर यह शब्द 'परप्रत्ययेन' (दूसरे के कहने पर, समझाने पर) है। 'मालविकाग्निमित्रम्' का वह श्लोक ही लिखता है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न यापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्षान्नादभजन्ते मूढः परप्रत्ययेन बुद्धिः॥

शंकर शरण बड़ा प्रामाणिक लिखा करते हैं। किसी समस्या की तह में जाकर निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। 29 मार्च 2010 के 'आउटलुक' में अरुंधती राय के यात्रा

विवरण 'वाकिंग विद द कामरेड्स' पर उनकी टिप्पणी न केवल गौरतलब है, बल्कि समास्या की अतलता में प्रवेश भी है:

“अपने ही तैयार निष्कर्षों, दुराग्रह और अर्द्धसत्य का आत्मविश्वासपूर्ण दुहराव। निरंतर दुहराव के बल पर ही संकीर्ण और काल्पनिक विचारों को भी एकमात्र सत्य ठहराने की कोशिश।” (माओवाद का अंध-समर्थन, पृ. 41) आलम यह है कि अपने को चर्चित और सुखियों में लाने के लिए वह कुछ भी कर सकती हैं। क्या यही भारतीय मूल्य है? यही लेखकीय दायित्व और सामाजिक पक्षधरता है?

नक्सलवाद के सिद्धांत, स्वरूप, नीति, क्रियाकलाप आदि का खुलासा बराबर होता रहता है। मुख्य समस्या यह नहीं है कि नक्सली भारत राष्ट्र, भारतीय समाज और भारतीय संस्कृति के विरुद्ध युद्धरत समूह हैं, बरन् उनकी सृजनशीलता, प्रतिभा को विकास की मुख्य धारा से कैसे जोड़ा जाय यह प्रमुख प्रश्न है। नस्तर से सड़े अंग को काटकर निकालते जाने से बेहतर यह होगा कि उन्हें ऐसे स्वस्थ और अनुकूल वातावरण में रखा जाय कि अंग की सड़न का प्रश्न ही नहीं उठे। प्रतिभा, सृजनशीलता, वीरता का उपयोग देश के विकास, उसकी समृद्धि के लिए है, न कि विनाश के लिए। उनमें यह अहसास जगे, इस ओर प्रयास हो।

डॉ. पालीवाल भारतीय भाषाओं में संस्कृत के अवदान पर विचार करते हैं पर यह कतई नहीं भूलते कि व्यापारी तबका किस प्रकार हमारी संस्कृति, भाषा को रौंदते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगा है : “आज सबसे ज्यादा संकट संस्कृति परंपरा या स्मृति पर है, क्योंकि उपभोक्तावादी-संस्कृति, बाजार-व्यवस्था से मुनाफा कमानेवाले मीडिया - विज्ञापन का बहुत शोर मचाकर मीडिया का नवसाम्राज्य स्थापित करनेवाले उत्तर पूँजीवाद के नशे में चूर विकसित राष्ट्र नहीं चाहते कि हमें अपना कुछ भी याद रहे। स्मृति का नाश करके ही हमें 'ग्लोबलाइजेशन' से 'ग्लोबल विलेज' का ग्लोबल मैन' बनाया जा सकता है।” (पृ. 66) इसलिए यह अत्यावश्यक है कि न हम केवल संस्कृत का ज्ञान पाएँ वरन् उसकी समृद्ध परंपरा से स्वयं औरदेश को विकसित करें।

दो कार्यशालाओं की सचित्र रिपोर्टिंग करके आपने हमें उसका भागीदार बना दिया। हम महसूस करसकते हैं कि देश, राष्ट्र, समाज और मानवता के लिए आस्था भारती कितना प्रतिबद्ध है और आप उसे साकार करने में कितने क्रियाशील। बधाइयाँ।

**प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, पी.एच.डी., डी.लिट., प्रोफेसर एवं पूर्व
हिन्दी विभागाध्यक्ष, विनोवा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, संपर्क:
वृन्दावन, मनोरमा नगर, एल. सी. रोड, धनबाद-826001 (झारखंड)**

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office

**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848